स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य

[निबन्ध-संग्रह]

भूतपूर्व आलोचक

श्री चन्द्रबली सिंह को

अनुक्रम

—:०:—

स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य

१

* *

सांस्कृतिक स्वाधीनता और साहित्य

जून सन् ५० में बर्लिन नगर में एक सम्मेलन हुआ जिसका नाम था—'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम'। इस में फ़ासिस्टों के दोस्त जूलियन अमेरी, 'कम्युनिज़म की निकट पराजय' के लेखक जेम्स बर्नहम, सोवियत-विरोधी पुस्तकों के ख्यातनामा रचयिता केस्टलर, अमरीकी अणुशक्ति कमीशन के भूतपूर्व सभापति डेविड लिलियेन्थॉल, अमरीकी 'फेडरेशन ऑफ लेबर' के प्रतिनिधि ब्राउन जैसे बुद्धिजीवियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन का एक संक्षिप्त विवरण अमरीकी सूचना-विभाग ने छाप कर इस देश में भी वितरित किया। विवरण का शीर्षक है: 'फ्रीडम टेक्स दि ऑफेन्सिव' (स्वाधीनता का हमला शुरू)। यह स्वाधीनता का हमला सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों के प्रति है। स्वाधीनता का असली रूप वह है जो अमरीका में पाया जाता है; समाजवादी देशों में जनता गुलाम है, उसे आज़ाद करने के लिये यह हमला है।

इस सम्मेलन के प्रमुख सिद्धान्तकार आर्थर केस्टलर महोदय थे। इन्होंने बतलाया कि आज की दुनिया में समाजवाद और पूँजीवाद जैसे शब्दों का परस्पर विरोध निरर्थक हो गया है। इस

महत्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन करने की जरूरत यों पड़ी कि केस्टलर महोदय के अनुसार समाजवाद और पूंजीवाद, वामपंथी और दक्षिण पंथी जैसे शब्द निरर्थक होते हुए भी लोगों को आकर्षित कर लेते हैं और लोग साम्यवादी विचारधारा को ही प्रगतिशील विचारधारा मान बैठते हैं। ऐसे ही शान्ति की रक्षा आदि भ्रामक शब्द हैं जिनसे आकर्षित हो कर लोग अनजान में प्रतिक्रियावाद के—अर्थात् समाजवादी देशों के—मित्र बन जाते हैं। वर्तमान संसार की गति ऐसी है कि वर्गों का आपसी संघर्ष मिट गया है और उस के बदले वर्गों से परे एक अस्थिर संघर्ष कायम हो गया है।

"But in fact, recent developments have abolished the static trench-war—fare between the classes and have transformed it into a fluid war of movement."

आप यह न समझें कि केस्टलर को समाजवाद से नफ़रत है या पूंजीवाद से प्रेम है। उन्हों ने स्पष्ट कर दिया कि उनका मतलब किसी का पक्ष न लेकर इतना ही है कि पूंजीवाद या समाजवाद सस्ते समाधान हैं। ये सब १९वीं सदी की धारणायें हैं जब कि २० वीं सदी की दुनिया बदल चुकी है। तब असली समाधान क्या है? असली समाधान है स्वाधीनता। स्वाधीनता का मतलब यह नहीं कि मनुष्य को खाने कपड़े की चिन्ता न हो। अभी तक लोग किसी विशेष अन्याय या उत्पीड़न के खिलाफ लड़ते आये हैं। केस्टलर साहब की स्वाधीनता इतनी व्यापक है कि वह स्वयं भी उसकी कल्पना नहीं कर सकते, न बता सकते हैं कि वह कहाँ मिलेगी। लेकिन रक्षा इसी स्वाधीनता की करनी है:

"And I don't mean by that, freedom from want, freedom from fear, and the rest. Since the dawn of civilisation people have fought under the slogan of freedom; but it was always

freedom from some particularly irksome oppression, freedom in a restricted, negative sense. I mean freedom in a much deeper and fuller sense than we can conceive to-day or see realised anywhere in organic nature."

मतलब यह कि किसी विशेष अन्याय या उत्पीड़न के खिलाफ लड़ना, स्वाधीनता को संकीर्ण बनाना, उसे नकारात्मक रूप देना है। केस्टलर साहब इसे तक़दीर की चुनौती (डेस्टिनीज़ चैलेञ्ज) समझते हैं कि मानवता को इस व्यापक स्वाधीनता के लिये लड़ना है।

इस स्वाधीनता की लड़ाई को कैसे चलाया जायगा, इसे और वक्ताओं ने और साफ़-साफ़ बतलाया। मिसाल के लिये अमरीकी लेखक जेम्स टी० फैरेल ने कहा कि आज-कल मास्को अधिनायकशाही की राजधानी है। वहाँ का समाज गुलामों की मेहनत पर निर्भर है। अधिनायकशाही का प्रचार लाखों नर-नारियों की आत्मा को मारे डाल रहा है। बोरिस निकोलायेव्स्को नाम के एक सज्जन के अनुसार जब तक मास्को स्वाधीन नहीं है तब तक पश्चिमी देशों की स्वाधीनता भी खतरे में है। जेम्स बर्नहम ने केस्टलर की तरह शब्दों के भ्रामक प्रयोग से फिर सावधान किया और वामपंथियों के प्रचार को रहस्यवाद बतलाया। आप के अनुसार संसार का शान्ति आन्दोलन सोवियत साम्राज्यवाद के प्रसार का साधन है और इसलिये आप सोवियत संघ में बने हुए अणुबमों के खिलाफ हैं और अमरीकी बमों के पक्ष में!

"I am against those bombs, now stored or to be stored later in Siberia or the Caucasus, which are designed for the destruction of Paris, London, Rome, Brussels, Stockholm, New York, Chicago, Berlin, and of Western civilisation generally. But I am—yesterday and to-day

at any rate--for those bombs made in Los Alamos, Hanford, and Oak Ridge, and guarded, I know not where, in the Rockies or American deserts."

ये अमरीकी बम स्वाधीनता की रक्षा के लिये हैं और सोवियत बम उस के विनाश के लिये !

बर्लिन में एकत्र इन विद्वानों ने एक घोषणापत्र निकाला जिस में उन्हों ने समाजवादी देशों को (दि टोटैलीटेरियन स्टेट्स) मानवजाति के लिए सब से बड़ा खतरा बतलाया और बुद्धि-जीवियों को सचेत किया कि इस खतरे के प्रति उदासीन रहना मानवजाति के बुनियादी मूल्यों के प्रति विश्वासघात करना होगा। हम इस खतरे का सामना किस तरह करते हैं, इसी पर यह निर्भर है कि मनुष्य स्वाधीन जीवन बितायेगा या कीड़ों-मकोड़ों की तरह जियेगा।

मतलब यह कि अमरीकी युद्ध-प्रचार और युद्ध की तैयारियों में हिस्सा बटाओ, वर्ना सांस्कृतिक स्वाधीनता, मानव जाति के बुनियादी मूल्यों के प्रति विश्वासघात करोगे !

इस सम्मेलन ने तय किया कि सांस्कृतिक स्वाधीनता की रक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय कमेटी बनायी जाय और वह विभिन्न देशों में ऐसी स्वाधीनता के लिए लड़नेवालों की नैतिक और भौतिक सहायता करे। इसी सम्मेलन की ओर से लंदन से 'एनकाउण्टर' नामक पत्रिका निकाली गयी है जिसके एक सम्पादक स्टीफेन स्पेण्डर कुछ दिन हुए भारत का दौरा कर गये थे।

पाठकों को स्मरण होगा कि बम्बई में स्वनामधन्य सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन के नेतृत्व में जो 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' हुई थी, वह भी इसी अन्तर्राष्ट्रीय अमरीकी अभियान का एक अंग थी। उस अभियान का अगला क़दम है : दिल्ली की "आलोचना" का सम्पादकीय स्तंभ। इस स्तम्भ की आधार शिला है 'धर्मवीर भारती'।

केस्टलर और बर्नहम की तरह भारती के लिए भी भाषा दूषित हो गई है। वर्तमान परिस्थितियों ने "भाषा को सब से अधिक क्षत-विक्षत किया है।" (आलोचना, अप्रैल, ५४, में भारती का लेख "साहित्य की नयी मर्यादा")। इसी भाषा के द्वारा समाजवाद का विरोध करके सांस्कृतिक स्वाधीनता की रक्षा करनी है। "इतनी दूषित भाषा के द्वारा इतना जटिल दायित्व पूरा करना है।" (उप०)। बर्लिन के घोषणापत्र की तरह भारती की स्वाधीनता भी किसी विशेष अन्याय या विशेष उत्पीड़न के विरुद्ध नहीं है। मानव अस्तित्व का "बुनियादी प्रतिमान" उसका स्वातंत्र्य है। (आलोचना, अप्रैल, १९५५; "साहित्यकार का वैयक्तिक स्वातंत्र्य और सामाजिक दायित्व")। पूंजीवाद समाज भी खराब है; समाजवादी व्यवस्था भी खराब है। इन दोनों से भिन्न आलोचना के सम्पादक किस तरह की समाज व्यवस्था में अपनी स्वाधीनता सिद्ध करेंगे, यह वह नहीं बतलाते। इस का कारण यह है कि मूल उद्देश्य समाजवादी व्यवस्था का विरोध करना है, पूंजीवादी शोषण से मुक्ति पाना नहीं। वह तो समस्या का सस्ता समाधान है।

भारती का आग्रह है कि हम उन के बुनियादी प्रतिमानों पर तुरन्त आचरण करें। देखिये, खतरा कहाँ है। लिखते हैं, "यदि हम ऐसा नहीं करते और भविष्य के किसी अदृश्य वर्गहीन समाज की स्थापना के नाम पर मानववादी मूल्यों का तिरस्कार करते हैं तो हम प्रगति की आस्था को आन्तरिक रूप से पराजित करके एक प्रकार के नये भाग्यवाद को प्रश्रय देने लगते हैं।" (भारती का उपर्युक्त लेख, "साहित्य की नयी मर्यादा")।

सबसे बड़ी मुसीबत इसी वर्गहीन समाज के स्वप्न की है। यह स्वप्न जनता के हृदय में घर कर गया है। यहाँ तक कि शासकों को भी समाजवादी ढांचे की चर्चा करनी पड़ती है। अब तक सैकड़ों की तादाद में लोग रूस और चीन जा कर उस व्यवस्था को अपनी आँखों से देख भी आये हैं। तीस साल में साम्राज्य-

वादियों ने झूठ की जो दीवारें खड़ी की थीं, वे तीन साल में ढह तो गयीं ही, समाजवादी भविष्य में भारतीय जनता की आस्था और भी दृढ़ हो गयी। करोड़ों आदमियों को आज समाजवाद की विजय अनिवार्य दिखाई दे रही है। वह अनिवार्यता धर्मवीर भारती और उनके धर्मगुरुओं को नियतिवाद मालूम होती है। इसलिए अंग्रेजी "एनकाउण्टर" और हिन्दी "आलोचना" में इस 'मार्क्सीय' नियतिवाद पर काफ़ी कोप प्रकट किया जाता है। समाजवादी रूस से नफ़रत करने में "आलोचना" के सम्पादक अपने अमरीकी धर्मगुरुओं के भी कान काट लेते हैं। जनवरी ५५ की 'आलोचना' के ये सम्पादकीय वाक्य दर्शनीय हैं, "यूरोप के साहित्य में जर्मनी, फ्रांस, इंगलैण्ड आदि में कभी भी उपयोगितावाद का इतना आग्रह नहीं था। यह धारा रूस से आयी है, इसलिए कि रूस को कभी भी मुक्त विचारों की प्रतिद्वंद्विता का स्वाद नहीं मिला। सोवियत क्रान्ति के बाद यह परम्परागत पूर्वाग्रह और भी प्रबल हो गया।"

अमरीकी युद्ध-प्रचार और 'आलोचना' के सम्पादकीय नोटों में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, पाठक सहज ही देख सकते हैं। अन्तर इतना है कि अमरीकी युद्ध-प्रचारक सोवियत रूस को ही कोसते हैं जबकि "आलोचना" के सम्पादक रूस मात्र को स्वाधीनता का—और इसलिये मानवता का शत्रु समझते हैं।

कुछ लोगों में सोवियत-विरोध ने दिमागी बीमारी का रूप ले लिया है। यूरोप और अमरीका के इजारेदार पूंजीपति महसूस करते हैं कि उनके पैरों तले से जमीन खिसक रही है। उनके चारण मानव मूल्यों के विघटन और अपने अपाहिज होने का रोना रोते हैं। कहावत है कि पीलिया के रोगी को सब कुछ पीला ही पीला दिखाई देता है। यही हालत इलियट-स्पेंडर सम्प्रदाय के देशी नक्कालों की है। अक्तूबर ५३ की आलोचना में इस बात का रोना है कि, "जैसे आज का जीवन अपने मूल्यों की दिशा में अनिश्चित, अस्पष्ट और उलझा हुआ है, वैसी ही आज के साहित्य की मान्यताएँ

भी हैं।" औरों के साहित्य पर यह बात चाहे लागू न होती हो, आलोचना की सम्पादकीय टिप्पणियाँ अनिश्चित, अस्पष्ट और उलझी मान्यताओं की मिसाल ज़रूर हैं।

अप्रैल १९५४ की "आलोचना" का सम्पादकीय यों शुरू होता है: "सम्भवत: भविष्य के इतिहासकार कहेंगे कि हम ऐसे युग में पैदा हुए जब भारतवासी एक रहस्यवादी आस्था, वेदना और शायद विनाश-भय की मिली-जुली भावनाओं के साथ अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्व के अन्वेषण में लगे हुए थे।" विनाश-भय भारतवासियों को नहीं है, उन इजारेदारों को है जो एशिया को गुलाम बना कर अब तक अपनी तिजोरियाँ भरते रहे थे। भारतवासियों को अपने भविष्य में आस्था है जिस का आधार रहस्यवाद नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव और अपनी शक्ति की पहचान है। युद्धकाल में स्टीफेन स्पेण्डर ने "कवि और समाज" एक किताब लिखी थी, जिसमें अंग्रेजी साहित्य की यह व्याख्या की थी कि सभी महान साहित्यकार जीवन के प्रति केवल प्रश्न करते रहे थे। स्पेण्डर से चार क़दम आगे बढ़ कर आलोचना के सम्पादक उसी टिप्पणी में कहते हैं: "यह भी असम्भव नहीं है कि कोई साहित्यकार अपना सारा जीवन केवल इसी अन्वेषण में बिता दे कि प्रश्न असल में क्या है और किस रूप में पूछा जा रहा है।" बात सही है। आप एक जीवन तो क्या सात जनम में भी इस बात का जवाब नहीं दे सकते कि पूंजीवाद के बाद समाजवाद के अलावा वह कौन-सी व्यवस्था होगी जिसमें केस्टलर-भारती की सांस्कृतिक स्वाधीनता सुरक्षित रहेगी।

"साहित्य की नयी मर्यादा" में धर्मवीर भारती संसार पर एक बार निगाह डाल कर फ़र्माते हैं: "हमारी मानव संस्कृति में आज पूरे देश, पूरी जातियाँ, पूरे सम्प्रदाय, पूरी चिन्तन-धारायें और पूरे के पूरे साहित्यिक निकाय इस मूल्यहीनता से, इस पक्षपात से अशक्त होकर प्रगति और विकास की दिशाओं में भटक गये हैं।" अब सोचिये, कितना बड़ा दायित्व भारती जैसे लेखकों के कन्धों पर

है। समूचे देशों को, पूरी जातियों, सम्प्रदायों, चिन्तनधाराओं और साहित्यिक निकायों को उबार कर सांस्कृतिक स्वाधीनता के स्वधर्म में दीक्षित करना है; और यह काम तब करना है जब इस दायित्व को न समझने के कारण 'कितने ही चिंतक, लेखक और कलाकार इस दासता के तथाकथित कायरतापूर्ण सरल समाधान को जूए की तरह स्वीकार करके इस भय के शिकार बन चुके हैं।' सरल समाधान है शोषण का विरोध। बहुत से लेखकों ने कायरतावश उसका जुआ स्वीकार कर लिया है। इससे अधिक दुख की बात और क्या होगी? इसी चिन्ता से "आलोचना" के सम्पादक दुबले हैं, बार-बार बुनियादी मूल्यों की दुहाई देते हैं, कारवाँ की घंटी सुनते हैं, जनवाद को कोसते हैं, ईमानदारी और हिम्मत की सौगन्ध खाते हैं, फिर भी उन्हें विश्वास नहीं होता कि उनकी सांस्कृतिक स्वाधीनता की प्रतिष्ठा होगी।

टी० एस० इलियट ने "ईस्ट कौंकर" नाम की कविता में लिखा है:

"I said to my soul, be still,
and wait without hope;
For hope would be hope for the wrong thing;
wait without love.
For love would be love of the wrong thing,
there is yet faith.
But the faith and the love and the hope
are all in the waiting.
Wait without thought, for you are
not ready for thought.
So the darkness shall be the light
and the stillness–the dancing."

("मैं ने अपने मन से कहा शान्त हो जाओ, और बिना आशा के राह देखो, क्योंकि आशा ग़लत चीज़ की आशा होगी; बिना प्यार के राह देखो क्योंकि प्यार गलत चीज़ का प्यार होगा; आस्था अभी बाक़ी है, लेकिन आस्था और प्यार और आशा सभी राह देख रहे हैं। बिना चिन्तन के राह देखो क्योंकि तुम चिन्तन के लिए तैयार नहीं हो; इसलिए अंधेरा ही प्रकाश होगा और नीरवता नाचेगी।")

अनिश्चित, सन्देह में पड़े हुए, आशा-आस्था-प्रेम से छूछे पश्चिम के पतनशील बुद्धिजीवियों की दशा इलियट की पंक्तियों में अच्छी तरह प्रतिबिम्बित हुई है। भारती के विलाप की भी यही टेक है। लेकिन अपना इलाज कराने के बदले भारती को रोगी दिखाई देती है बाक़ी सारी दुनिया। 'साहित्य की नयी मर्यादा' में कहते हैं: "आज की व्यापक सांस्कृतिक रुग्णता में यह दासत्व भावना और प्रगति-विरोधी निष्क्रियता बहुत सहज संभाव्य है, क्योंकि टी० एस० इलियट के शब्दों में हमारा हृदय हम से अलग जा पड़ा है और हमारा दिमाग़ प्याज के छिलकों की तरह उतर गया है—क्योंकि हम एक अज्ञात भय से आकुल हैं जिससे हम आँख नहीं मिला सकते।" हालत तो यह है कि दिल और दिमाग़ दुरुस्त नहीं हैं लेकिन सस्ते समाधानों से बचने की चेतावनी दे रहे हैं, दूसरों को। भय और कायरता छाये हैं इन पर, और हिम्मत और ईमानदारी का पाठ पढ़ा रहे हैं सारी दुनिया को। इन के लिए बीमार इस युग के लोग ही नहीं हैं वरन् साहस के अनेक काम करने के बावजूद "अक्सर ऐतिहासिक निर्णय के क्षणों में मनुष्य ने कायरता ही दिखाई है, उसने स्वातन्त्र्य अस्वीकार किया है, दासता स्वीकार की है;" भाषा दूषित, मानवता दूषित, इतिहास दूषित, इसलिये कि मनुष्य ने केस्टलर-भारती की स्वाधीनता की रक्षा नहीं की!

धर्मवीर भारती को प्रगतिशील लेखकों से खास शिक़ायत है क्योंकि ये शोषण का खुला विरोध करने का पाप करते हैं। वे

सस्ता समाधान ढूँढ़ते हैं, शार्ट-कट तलाश करते हैं। लेकिन जहाँ मानवमात्र ने ऐतिहासिक क्षणों में कायरता दिखाई हो, वहाँ प्रगतिशील लेखकों की क्या बिसात? इन का दृष्टिकोण तो सतही और छिछला है ही। हिन्दी ने भी कोई बहुत बड़े उपन्यासकार नहीं पैदा किये। अपने घर में प्रेमचन्द की तारीफ़ कर लीजिये लेकिन "जिस बिन्दु पर स्थित हो कर हमने मनुष्य को समझने का प्रयास किया है, विश्व-उपन्यास की तुलना में वह बिन्दु काफ़ी सतही है। यह बात प्रेमचन्द के बारे में भी उसी तरह लागू होती है, यह स्वीकार करने में हमें कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये।", (आलोचना, अक्तूबर ५४, सम्पादकीय)। और भी—"इस युग का प्रश्न उतना अनगढ़ नहीं है। वह सुधरा और अधिक आकर्षक बन गया। और उत्तर भी उसी मात्रा में सुधरा और सीधा दिया गया। लेकिन यह बराबर लगता है जैसे 'शार्टकट' का प्रयोग किया जा रहा हो। प्रेमचन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं।" (आलोचना, अप्रैल ५४, सम्पादकीय)।

प्रेमचन्द को 'शार्ट-कट' का दोषी बताना भारती के आलोचना-शास्त्र का प्रमुख सूत्र है। इस का कारण यह है कि जिस पतनशील धारा की तलछट धर्मवीर भारती हैं, उस से ठीक उलटी राष्ट्रीय और जनवादी धारा के सबसे ज्वलन्त प्रतीक हैं, प्रेमचन्द। प्रेमचन्द को सतही दृष्टिकोण का लेखक साबित करने के लिये भारती यूरोप के उपन्यासकारों को याद करते हैं, जैसे सोवियत उपन्यासकारों को नीचा दिखाने के लिये वह १९वीं सदी के रूसी उपन्यासकारों का नाम लेते हैं। लेकिन जब प्रेमचन्द निगाह के सामने नहीं होते तब १९वीं सदी के पश्चिमी साहित्यकारों की स्थापनाएँ भी थोथी जान पड़ती हैं। सुनिये : "कहा गया है कि मशीन युग की बढ़ती हुई सभ्यता और सम्भावनाओं के साथ मूल्यगत आस्था के अभाव में सांस्कृतिक उपलब्धियों का संतुलन अस्थिर हो गया है। युग की परिस्थिति का यह स्वाभाविक परिणाम है। पर इस संतुलन की

रक्षा का प्रयत्न भी १९वीं सदी के मानववादियों ने किया। इन्होंने वैज्ञानिक युग के साथ समझौता करते हुए तर्क, प्रयोजन ग्रादि के ग्राधार पर मानव जीवन के ग्राचरणात्मक मूल्यों को स्थापित करने की कोशिश की है। इन्हों ने व्यक्तिगत विवेकमात्र किया है। पर बिना पर्याप्त प्रेरक शक्ति की सही व्याख्या किये मानववादी मूल्यों की स्थापनाएँ थोथी जान पड़ती हैं।" (ग्रालोचना, ग्रक्तूबर ५३, सम्पादकीय)। १९वीं सदी के पच्छिमी उपन्यासकारों ने मानवीय मूल्यों को स्थापित करने की कोशिश जरूर की लेकिन प्रेरक शक्ति का ग्रभाव था—ग्रमरीकी साम्राज्यवाद ग्रौर केस्टलर-बर्नहम सम्प्रदाय का ग्रभाव था—इसलिए उनकी स्थापनाएँ भी थोथी रह गयीं।

ऐतिहासिक क्षणों में मानवता कायर, उस के महान लेखकों का दृष्टिकोण थोथा ग्रौर सतही—संक्षेप में मानव-संस्कृति की यह 'भारती' व्याख्या है (भारतीय व्याख्या नहीं)।

मानव-संस्कृति के प्रति यह दृष्टिकोण रखनेवाले ग्रपने को चाहे जितना ग्र-सतही ग्रौर लौंग-कट वाला समझें, यह दृष्टिकोण है उन लोगों की विशेषता का जो युद्ध द्वारा दुनिया को गुलाम बनाना चाहते हैं। उनके लिये न केवल इस युग की संस्कृति जर्जर है वरन् पिछले युगों की संस्कृति भी थोथी ग्रौर सतही है। भारती ने जिसे ग्रमरीकी 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' का हिन्दी प्रतिनिधि होना स्वीकार किया है, उस से इस तरह का मानवद्रोही, संस्कृति-विरोधी दृष्टिकोण सहज संभाव्य है।

फ़ासिज्म, साम्राज्यवाद ग्रौर युद्ध-प्रचार के विरोध में मार्क्सवादी सब से ग्रागे रहे हैं। इसलिए भारती का कोप भी उन पर विशेष है। भारती को शिकायत है कि "मार्क्सवाद साम्प्रदायिक हो गया है : 'सम्प्रदायगत' ईसाइयत ग्रौर सम्प्रदायगत कम्युनिज्म में बाहरी विरोध होते हुए भी मार्क्सीय ग्रान्दोलनों के ग्रर्थ समझने के लिए कलाकारों ने जीसस की बलिदान कथा के ही प्रतीकों को चुना।"

(साहित्य की नयी मर्यादा)। जीसस की बलिदान कथा को प्रतीक चुनना इस बात का सबूत है कि कम्युनिज्म सम्प्रदायगत हो गया है। इस अकाट्य तर्क पर विश्वास न हो तो "आज का आधुनिकतम इतिहासवेत्ता हर्बर्ट बटरफील्ड" गवाह है। एक तो वह आज का इतिहासवेत्ता है, उस पर आधुनिकतम है। और वह भी "अपनी नवीनतम कृति" में क्या कहता है, उस की साखी भारती पेश करते हैं। श्रीयुत बटरफ़ील्ड का विचार है कि १७वीं सदी में जिस तरह जेनेवा में कैलविन सम्प्रदाय आतंककारी सिद्ध हुआ, उसी तरह आज का "मास्को में केन्द्रित स्तालिनवाद"। कितनी मौलिक खोज है! यद्यपि बात उतनी ही पुरानी है जितनी कि वर्त्तमान सोवियत व्यवस्था और उसे कहनेवाले चर्चिल से लेकर हिटलर तक सैकड़ों "इतिहासवेत्ता" रहे हैं। फिर भी भारती के लिये है वह नवीनतम!

भारती विश्वास दिलाते हैं कि वह सम्प्रदायगत मार्क्सवाद के विरुद्ध हैं, मार्क्सवाद मात्र के नहीं? मार्क्स को वह "गुड कॉन्डक्ट" का यह सर्टिफिकेट देते हैं, "मार्क्स द्वारा स्थापित प्रगति की मर्यादा में कोई ऐसा मौलिक अभाव नहीं था जो उससे प्रेरित साहित्य को मानववादी उत्कृष्ट साहित्य बनने से रोक देता।" (उप०)। और भी—"मार्क्स के सामाजिक दर्शन में मानव-व्यक्तित्व को जीवन की उपलब्धि और सौंदर्य का प्रमुख आधार मानता है।" (आलोचना, अप्रैल ५५, सम्पादकीय)। लेकिन यह उदारता ज्यादा टिकाऊ नहीं साबित होती। उसका उपयोग परिस्थिति-विशेष में समाजवादी व्यवस्था और मार्क्सवादी लेखकों की साम्प्रदायिकता सिद्ध करने के लिये है। मार्क्स हैं तो बुनियादी तौर से नियतिवादी। पर उसके नियतिवाद को किस-किस ने बेबुनियाद साबित नहीं कर दिया? "पदार्थ-विज्ञान के सापेक्षतावाद, क्वान्टम सिद्धान्त, इलेक्ट्रॉन सिद्धान्त ने भौतिकवाद की मान्यताओं पर तीव्र आघात पहुँचाया है जिस पर मार्क्स का यान्त्रिक नियतिवादी दर्शन आधारित था।" ("साहित्य की नयी मर्यादा")।

मार्क्सवाद के जन्मदाता का ही दृष्टिकोण यांत्रिक था; खोट उसके अनुयायियों में ही हो, यह बात नहीं है। जिस व्यक्ति का कहना था कि दर्शनशास्त्र का ध्येय संसार को समझना ही नहीं है, उसे बदलना भी है, उसे धर्मवीर भारती और उन के ऐंग्लो-अमरीकी धर्मगुरु नियतिवादी कहते हैं। उन के इस आरोप का कारण यह है कि मार्क्स ने मज़दूर वर्ग और तमाम शोषितों को सामाजिक विकास के नियम बतलाये, उन परिस्थितियों को समझना बतलाया जिन में मनुष्य अपना इतिहास निर्मित करता है। भारती इतिहास-निर्माण की बात करते हैं लेकिन उन परिस्थितियों का उल्लेख नहीं करना चाहते जिनमें मनुष्य यह इतिहास-निर्माण का काम पूरा करता है। व्यक्ति और परिस्थिति के सम्बन्ध को गलत पेश करके भारती मार्क्सवाद पर नियतिवाद का आरोप करते हैं। इस में दोष मार्क्सवाद का नहीं है।

भारती के लिए मार्क्स का दर्शन खोटा है, उस का अर्थशास्त्र भी खोटा है। उसी लेख में वे कहते हैं: "उस के अर्थशास्त्र को स्वत: क्रोचे ने अस्वीकृत कर दिया जो किसी समय मार्क्सवादियों के इतना निकट था कि कम्युनिस्ट पत्र उसे कामरेड क्रोचे कहते थे। मार्क्स के अर्थशास्त्र की व्यर्थता का इस से बड़ा प्रमाण और क्या होगा कि सौंदर्यशास्त्री क्रोचे ने भी उसे अस्वीकृत कर दिया? फिर वह अर्थशास्त्र कैन्तान से ले कर प्राग तक एशिया और यूरोप के विराट भूभाग में नयी समाज-व्यवस्था के निर्माण में किस तरह मार्ग दर्शन कर रहा है, यह देखने की क्या ज़रूरत।

भारती को प्रगतिशील शब्द मार्क्सवाद का ही रूपान्तर मालूम होता है, इसलिए इस दूषित शब्द से भी वह सख्त नाराज हैं। वह प्रेमचन्द की इस उक्ति को दोहराते नहीं थकते कि प्रगतिशील साहित्य—यह नाम ही गलत है। लेकिन सांस्कृतिक स्वाधीनता का अमरीकी संस्करण प्रगतिशील है, यह कहने में संकोच नहीं है। समाजवाद के लिए जो लोग व्यक्तिगत स्वाधीनता की कल्पित बलि

देते हैं, उन्हें सावधान करते हुए भारती कहते हैं: "किन्तु यह भाग्य-वादी रुग्ण दृष्टिकोण है, प्रगतिशील स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं।" ("साहित्य की नयी मर्यादा") तात्पर्य यह कि तुम प्रगतिशील-अप्रगतिशीलका भेद करो तो गलत, हम करें तो ठीक। भारती और उन जैसों को यह याद दिलाना भी अप्रासंगिक न होगा कि प्रेमचन्द ने साहित्य के पतनशील रुझानों का बार-बार खंडन किया था। उन के लिए सभी साहित्य प्रगतिशील नहीं था। प्रेमचन्द का कहना था: "हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिन से नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाय, जिन से हमारे हृदय में नैराश्य छा जाय। वे प्रेम-कहानियाँ, जिन से हमारे मासिक-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते हैं, हमारे लिये अर्थहीन हैं अगर वे हम में हरकत और गर्मी नहीं पैदा करतीं।" भारती के लिए यह सतही दृष्टिकोण हो सकता है, हमारे लिए यही एक सही दृष्टिकोण है।

भारती को जन शब्द, जनवादी शब्द से भी चिढ़ है। जहाँ कहीं जनवादी साहित्य की चर्चा होती है, उन्हें कम्युनिस्ट पार्टी अपना राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करती दिखायी देती है। लेकिन प्रगतिशील की तरह वह जनवादी शब्द का मोह भी नहीं छोड़ सकते। प्रेमचन्द की तरह जिन लोगों ने सस्ते समाधानों से सन्तोष नहीं किया, उन दिग्गजों की चर्चा करते हुए कहते हैं: "किन्तु इतना सत्य है कि हमारी जनवादी आस्था, और साथ ही विश्वमानव की पीड़ा, इस के बीच न तो आज के साहित्यकार ने आँख मूँदने का प्रयास किया है और न सीधा सरल समन्वय निकाल कर ही सन्तोष किया है।" (आलोचना, अप्रैल ५४, सम्पादकीय)। तात्पर्य यह कि सांस्कृतिक स्वाधीनता के अमरीकी रूप को मानो, मार्क्सवाद को नियतिवाद और समाजवादी व्यवस्था को गुलामी कहो तो तुम जनवादी हो, वरना तुम्हारा जनवाद साम्प्रदायिक है, कम्युनिस्ट पार्टी की स्वार्थसिद्धि का साधन है!

कोई आश्चर्य नहीं कि हिन्दी के वे लेखक भी जो मार्क्सवाद से सहमत नहीं हैं, भारती सम्प्रदाय के स्वाधीनता प्रेम से चौंकने लगे हैं, फ्रांस के उन लेखकों का हवाला देते हुए जो व्यक्ति की स्वाधीनता के नाम पर अपना देश नाज़ियों को सौंप बैठे थे, श्री इलाचन्द जोशी कहते हैं : "इन ज्वलंत दृष्टान्तों से शिक्षा लेने के बजाय आज हमारे राष्ट्र के कुछ तरुण कलाकार अपनी कवि कल्पना-प्रसूत व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नारों से साहित्य के आकाश को गुंजा देना चाहते हैं और सामाजिक तथा राष्ट्रीय दायित्व के प्रश्न को पृष्ठ-भूमि में छोड़ देने के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं। इन लक्षणों को मैं शुभ नहीं मानता—विशेष कर उस स्थिति में जब कि आज हमारे राष्ट्र के ऊपर वैसा ही ख़तरा मँडरा रहा है जैसा कि पिछले महायुद्ध में फ्रांस पर।' (साहित्यकार जून १९५५, "वैयक्तिक स्वतन्त्रता बनाम सामाजिक चेतना।") निःसन्देह जोशी जी की यह चेतावनी सामयिक और उपयोगी है।

सारांश यह कि भारती की सांस्कृतिक स्वाधीनता का नारा वही है जो अमरीकी 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' का है। उसका संस्कृति से यह सम्बन्ध है कि वह प्रेमचन्द जैसे साहित्यकारों के दृष्टिकोण को भी सत्य ही समझता है और १९ वीं सदी के पश्चिमी उपन्यासकारों की स्थापनाओं को भी थोथा कहता है। स्वाधीनता के नाम पर वह समाजवाद का विरोधी है, लेकिन किस सामाजिक व्यवस्था में यह अखंड स्वाधीनता फूले-फलेगी, यह भारती-सम्प्रदाय के प्रोग्राम में कहीं नहीं लिखा। वास्तव में सांस्कृतिक स्वाधीनता का यह विराट आयोजन अमरीकी साम्राज्यवाद के हितों की सुरक्षा का ही एक अंग है। लेकिन धनबल और नैतिक साधनों की प्रचुरता के बावजूद इस संस्कृति-विरोधी दल के लोग दर्द से छटपटा रहे हैं। उनका मुख्य स्वर निराशा और पराजयवाद का है। इनके लिए "मानवता की अपराधी भावना भी हमारी चेतना में कौंध गयी।" (आलोचना, अप्रैल '५४, सं०)। मानवता को दोष देने

का अर्थ है, यह अपराध-भावना इन्हीं की चेतना में कौंध गयी है। अपने सम्प्रदाय के लिये ये कहते हैं, "इतिहास का सारा आघात सीधे इन्हीं के सीनों पर आ पड़ा।" (उप०) एक दो दर्द से छटपटाते हुए सीने, उस पर इतिहास का सारा आघात! इन्होंने "नया रास्ता निकालने का बोझिल उत्तरदायित्व झेलने का निश्चय किया" है। इसी से यह गुण भी उनमें पैदा हो गया है कि "तमाम लांछनों और आरोपों के बावजूद सीधी रीढ़ के साथ खड़े हो सकें।" (उप०)। एक तरफ़ सीने पर सीधे आघात, दूसरी तरफ़ रीढ़ सीधी करने की समस्या। उस पर चारों ओर अन्धकार। और—"इस अन्धकार को भेदने के लिए साहस की आवश्यकता है, जो सम्भवतः सम्मान और विवेक को भी दाँव पर लगाने को तैयार हो।" (उप०) इन्होंने सम्मान और विवेक को दाँव पर लगाया ही नहीं है, उन्हें खो भी चुके हैं। वरना प्रेमचन्द और रवीन्द्रनाथ के देश में केस्टलर और बर्नहम के अनुकरण पर 'कांग्रेस फॉर कल्चर फ्रीडम' के प्रचारक बनते! रही विवेक की बात, उसका अभाव "आलोचना" की हर सम्पादकीय टिप्पणी में स्पष्ट है। शब्दों के घटाटोप के बावजूद, पचीसों नामों की तालिका के बावजूद एक भी दलील, एक भी युक्ति में दम नहीं है। मार्क्सवाद को कोसने के लिए क्रोचे की दुहाई तक इनका विवेक सीमित है।

इन्हें टी० एस० इलियट की उन्हीं पंक्तियों का जप करना चाहिये—हृदय अलग जा पड़ा है, और दिमाग प्याज़ के छिलकों की तरह उतर गया है। जहाँ तक हिंदी साहित्य का सम्बन्ध है, वह प्रेमचन्द के बनाये हुए राजमार्ग पर आगे बढ़ेगा और भारत की जनता शान्ति और स्वाधीनता की रक्षा करेगी। कोई भी अमरीकी प्रचार इस प्रगति में बाधा नहीं डाल सकता।

—सितम्बर १९५५

———

२

* *

युग की परिधि और साहित्य की व्यापकता

सामाजिक परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, फिर भी उन परिस्थितियों में रचा हुआ साहित्य हमें अच्छा लगता है। यह तथ्य पेश कर के कुछ लेखक मार्क्सवाद को गलत साबित करना चाहते हैं। उन की दलील यह होती है—मार्क्सवाद मनुष्य के आर्थिक जीवन को बुनियाद मानता है और साहित्य को उस का प्रतिबिम्ब; बुनियाद तो बदल जाती है लेकिन साहित्य कायम रहता है और अपने युग के बाद भी आनन्द देता है।

दिल्ली की "आलोचना" में इस तरह की दलीलें अक्सर पढ़ने को मिलती हैं। उसके सम्पादकीय स्तंभ में साहित्य के स्थायी मूल्यों का प्रश्न भी उठाया जाता है। इस का एक समाधान अक्तूबर '५३ की "आलोचना" में हम पढ़ सकते हैं। पिछले युगों का साहित्य क्यों अच्छा लगता है, इस का उत्तर देते हुए संपादक लिखते हैं: "पर साहित्य, विशेष कर उच्च साहित्य, जीवन को जिस समग्रता में ग्रहण करता है, अथवा पूर्णता में अभिव्यक्त करता है, उसकी अपने आप में देश-काल से निरपेक्ष स्थिति हो जाती है।"

सवाल है कि जीवन की पूर्णता कहाँ निवास करती है? वह जीवन कौन-सा है, जो देशकाल से निरपेक्ष होता है? जो देश-काल से निरपेक्ष है, वह देश-काल-सापेक्ष भाषा में अभिव्यक्त कैसे होता है? समग्रता में ग्रहण, पूर्णता में अभिव्यक्ति आदि टुकड़े क्या कोई जंतर-मंतर हैं जिनसे साहित्य "अपने-आप" निरपेक्ष पद, कैवल्य, मोक्ष या निर्वाण प्राप्त कर लेगा?

संपादक आगे लिखते हैं: "युगीन जीवन की सीमाएँ उसमें प्रत्यक्ष न हों ऐसी बात नहीं, पर वह जीवन के संतुलन का जो आधार ग्रहण करता है, वह युग-युग के मानव में एक प्रकार से समान होता है और इसी संतुलन की संपूर्णता को व्यापक अर्थों में सौन्दर्य-बोध भी कह सकते हैं, और यही नया सौन्दर्य-बोध समीक्षा का स्थायी किन्तु निरंतर विकासशील मानदंड बन सकता है, क्योंकि इसी में प्रयोजन और प्रेषणीयता का सूक्ष्म समन्वय सम्पन्न हो सकता है।"

साहित्य के स्थायित्व का यह आधार निकला कि जीवन का एक विशेष संतुलन युग-युग के मानव में समान होता है। यह संतुलन क्या है, किन तत्वों में संतुलन होता है, हर युग के मानव में वह कैसे बना रहता है, यह सब रहस्यमय पर्दे के पीछे छिपा हुआ है।

अभी संतुलन के आधार का पता न लगा था कि संतुलन की संपूर्णता और प्रकट हो गयी। संपूर्णता भी मानो असंपूर्ण हो, इसलिए "संतुलन की संपूर्णता को व्यापक अर्थों में" ग्रहण करने की ज़रूरत पड़ी। इस ग्रहण-क्रिया के बाद जो पल्ले पड़े, उसका नाम है, सौन्दर्यबोध। यही साहित्य-समीक्षा का स्थायी मानदंड है, विकासशील मानदंड भी है! यह विकास देशकाल से निरपेक्ष किस लोक में होता है, यह कहीं स्पष्ट नहीं किया गया। वह प्रयोजन कौन-सा है, प्रेषणीयता किस के प्रति है, इन का सूक्ष्म समन्वय किस तरह होता है, इन प्रश्नों का भी यहाँ कोई उत्तर नहीं है। हाँ,

प्रयोजन और प्रेषणीयता, सूक्ष्म समन्वय और सम्पन्न में अनुप्रास–चमत्कार अवश्य है।

१९५० के साल बर्लिन में जो "कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम" हुई थी, उसमें अमरीकी लेखक जेम्स टी० फ़ैरेल ने कला के बारे में एक नुस्खा यह भी रखा था—"टु एक्स्प्लोर दि नेचर ऑफ़ सेल्फ़" ('आत्म प्रकृति का अन्वेषण')। फ़ैरेल और दूसरे 'स्वाधीनता प्रेमी' सज्जन युद्ध विरोधी जन-जागरण और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती हुई जनता से त्रस्त हो कर इस मंत्र का बराबर जप करते रहे हैं। उसकी भनक भारती के कानों में भी पड़ी। फलतः साहित्य का एक स्थायी तत्व और निकला 'मनुष्य की आत्मान्वेषी वृत्ति'। आत्मान्वेषी वृत्ति का यह अन्वेषण अक्तूबर १९५४ की 'आलोचना' के संपादकीय में देखा जा सकता है। यद्यपि फ़ैरेल ने इस वृत्ति को साहित्य मात्र के लिये सिद्ध किया था, पर भारती ने किसी कारणवश शेक्सपियर, दान्ते, कालिदास आदि कवियों को छोड़ कर उपन्यासों से ही इस वृत्ति का विशेष सम्बन्ध जोड़ा है। इस का कारण यह है कि जिस समय उन्हें इस वृत्ति का पता लगा, उस समय 'आलोचना' का उपन्यास अंक निकलनेवाला था; इसलिए फ़ैरेल-भारती के आत्मान्वेषण का सहज सम्बन्ध उपन्यास-कला से स्थापित हो गया। अब देखिये, तोलस्तोय के 'वार ऐण्ड पीस' में स्वाधीनता के लिए रूसी जनता का अदम्य संघर्ष चित्रित नहीं किया गया, वरन् 'एक विराट् कैनवस पर कितने ही चरित्र आते हैं जो अपनी जीवन प्रक्रिया में आत्मान्वेषण में तल्लीन हैं।' ('आलोचना, अक्तूबर १९५४, सम्पादकीय)। अर्थात् 'वार ऐण्ड पीस' उपन्यास क्या है, वैरागियों का बगीचा है जहाँ अनेक जटाधारी साधु-सन्त पद्मासन मारे ब्रह्मचिन्तन में लीन हैं।

यह ब्रह्मचिन्तन भी कितना सरस है कि 'एक ही व्यक्ति अपने जीवन की विभिन्न घड़ियों में विभिन्न स्तरों पर आत्मान्वेषण करता है और विभिन्न रीतियों से अपने आप को पाता और खोता चलता है।' (उप०)।

यह पढ़ कर हठात् 'आलोचना' के संपादकीय लेख याद आ जाते हैं। विभिन्न घड़ियों में और विभिन्न स्तरों पर उस के सम्पादक सन्त साहित्य की मर्यादा और मूल्यों के अन्वेषण में तल्लीन, उन्हें निरन्तर पाते और खोते चलते हैं। कभी संतुलन की संपूर्णता के व्यापक अर्थ हाथ लगते हैं तो कभी प्रयोजन और प्रेषणीयता का सूक्ष्म समन्वय। फिर गिन्सबर्ग का तंत्रशास्त्र हाथ लगा तो 'विवेक पर आधारित न्याय के प्रति मानववादी आग्रह' मंत्र का जप शुरू हुआ और कहीं फ़ैरेल का फ़ार्मूला दिखाई दे गया तो आत्मान्वेषण की तल्लीनता प्रकट हो गयी! निःसन्देह पाने और खोने का यह काम कितनी रीतियों से चलता है, उनकी गिनती कठिन है। 'आलोचना' की मोटी जिल्दों का ध्यान कर के ही मानों लिखा गया है: 'एक सीमाहीन प्रसार है, जिसमें जितने प्रकार के पात्र हैं उतने ही प्रकार की पद्धतियाँ और प्रणालियाँ हैं (कहीं फ़ैरेल, कहीं बर्नहम, कहीं केस्टलर, कहीं गिन्सबर्ग) और उन सब के बीच 'आत्मोपलब्धि' का तथ्य (सम्पादक मण्डली में धर्मवीर भारती की तरह) उन को वैयक्तिता ("हमारा हृदय हम से अलग जा पड़ा है और हमारा दिमाग़ प्याज के छिलकों की तरह उतर गया है!"), सजीवता ("इन फ़ीरोज़ी ओठों पर बरबाद मेरी ज़िन्दग़ी"!) और सार्थकता ("कांग्रेस फ़ॉर कल्चरल फ्रीडम' ज़िंदाबाद!) प्रदान करता है।' (उप०)।

आत्मोपलब्धि का यह सूत्र शुरू होता है तोल्स्तोय से लेकिन उसकी पूर्ण सिद्धि होती है आगे चल कर—मार्क्सवाद के सचेत विरोधियों में। तोल्स्तोय का हवाला सिर्फ़ इसलिए दिया गया है कि साहित्य में मार्क्सवाद-विरोध की परंपरा आप पहचानें। फ्रांस में एक तथाकथित अस्तित्ववादियों का गुट है जिस में "मार्क्सवाद की अन्ध सामूहिकता के विरुद्ध काफ़ी तीखा विद्रोह है।" लेकिन दुर्भाग्य से यह गुट बज़ात खुद "द्वितीय महायुद्ध में पराजित फ्रांस की देन है।" इस गुट के नेता जां पोल सार्त्र हैं। जब वह मार्क्सवाद का

विरोध करते थे, अमरीकी प्रचारक उन्हें खूब उछालते थे लेकिन जब से उन्होंने शांति के समर्थन में लिखना-बोलना शुरू किया है, तब से वे प्रचारक उन्हें कोसने लगे हैं। "आलोचना" के संपादक भी सार्त्र के लिए कहते हैं कि इनके पात्रों की "आत्मोपलब्धि झूठी और कृत्रिम-सी प्रतीत होती है।" इसलिए शुद्ध आत्मोपलब्धि के लिए सम्पादक दूसरी ओर चलते हैं—"जिन क्षेत्रों में चिन्तन-स्वाधीनता है।" कहना न होगा कि ये क्षेत्र रूस, चीन और भारत की 'अपवित्र' भूमि के बाहर हैं। इस "फ्री वर्ल्ड" के जगमगाते सितारे "जान स्टीन बेक, आर्थर केस्टलर और इगनात्सियो सिलोने स्पष्ट रूप में घोषित कर चुके हैं कि अर्द्ध राजनीतिक मतवादों के बजाय मनुष्य की आत्मोलब्धि कथा साहित्य का केन्द्रीय सत्य है।" (उप०)। ये लेखक कम्युनिस्ट-विरोध और अमरीकी युद्ध प्रचार में काफ़ी नाम कमा चुके हैं। यद्यपि उन का युद्ध प्रचार अर्द्ध राजनीतिक नहीं, पूर्ण राजनीतिक मतवाद है; फिर भी वे यह कहने से नहीं चूकते कि कथा-साहित्य का केन्द्रीय सत्य मनुष्य की आत्मोपलब्धि है!

आज जो साम्राज्यवाद यूरोप और एशिया में नेटो और सीटो के फ़ौजी संगठन खड़े कर रहा है, कोरिया, ताइवान, वियतनाम आदि में जो खुली फ़ौजी दखलंदाज़ी कर रहा है, युद्ध की तैयारियाँ करके जो मानव संस्कृति के लिए आज सब से बड़ा खतरा बन गया है, उसकी छत्रछाया में खड़े हुए "कांग्रेस फ़ॉर कल्चर लॉ फ्रीडम" के सिपहसालार साहित्य के स्थायी मूल्यों की बात करें, इस से बड़ी विडंबना और क्या हो सकती है?

साहित्य के मूल्य स्थायी हैं, निरपेक्ष रूप से नहीं, सापेक्ष रूप से, देशकाल से परे नहीं, देशकाल की सीमाओं में निरंतर विकास करती हुई मानवजाति की संचित सांस्कृतिक निधि के रूप में।

लेकिन अमरीकी साम्राज्यवाद के हित अस्थायी हैं; उतने ही अस्थायी हैं जितनी मनुष्य की संचित सांस्कृतिक निधि स्थायी है।

इन अस्थायी हितों की रक्षा के लिए ही स्थायी मूल्यों की टेर लगायी जाती है, लेकिन दोनों में कोई समानता नहीं, कोई सामंजस्य नहीं। स्थायित्व प्रेमचन्द में है अमरीकी चाकर केस्टलर में नहीं; स्थायित्व तोलस्तोय में है, "फ्री वर्ल्ड" के फैरेल-बर्नहम-गिन्सबर्ग में नहीं। इसलिए कि प्रेमचन्द, तोलस्तोय और उन के समानधर्मी साहित्यकारों ने मनुष्य को प्यार किया है, उसे सतानेवालों का विरोध किया है, वे केस्टलर-बर्नहम की तरह किसी युद्ध-प्रचार की मशीन के कलपुर्जे नहीं थे। वे मनुष्य थे, ईमानफ़रोश कलम-नवीस नहीं। जिस घिनौने मानवद्रोही काम में केस्टलर-भारती सम्प्रदाय लगा हुआ है, वह मनुष्य जाति के इतिहास में अनूठा है। न आज तक—हिटलरी अभियान के समय भी नहीं—मानव-संस्कृति के विनाश की ऐसी विश्वव्यापी तैयारियाँ की गयी थीं, न आज तक कोई भी लेखक इतना नीचे गिरा था जितना कि अमरीकी "कांग्रेस फ़ॉर कल्चरल फ्रीडम" के ये मानवघाती प्रचारक।

• साहित्य के मूल्य स्थायी ह और मनुष्यने अपने सुदीर्घ विकासक्रम और जीवन संघर्षके बीच ही उन्हें पाया है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन, पशु और मनुष्यमें समान रूप से हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि के इन्द्रियबोध मनुष्य और पशु में समान रूप से विद्यमान हैं लेकिन समान मात्रा में नहीं, समान रूप से विकसित नहीं। अपने सामाजिक जीवनक्रम में मनुष्य जहाँ पशुओं से भिन्न स्तर पर विकसित हुआ है, वहाँ उस ने अपने इन्द्रियबोध का भी परिष्कार किया है। शब्द पर मुग्ध होना, रंग-रूप पर रीझना उस के विवेक का परिचायक है। यह विवेक सामाजिक विकास से ही संभव हुआ है, वरना मनुष्यभक्षी जंगली जातियाँ भी श्रेष्ठ संगीतज्ञ और चित्रकार पैदा कर देतीं।

· रूप और शब्द के बिना न तो संसार की सत्ता सम्भव है, न साहित्य की। "ज्ञानेन्द्रियों से समन्वित मनुष्य जाति, जगत नामक अपार और अगाध रूप-समुद्र में छोड़ दी गयी है।" (आचार्य शुक्ल,

रसमीमांसा, पृ० २५६)। मनुष्य और प्रकृति की यह रूपात्मक एकता साहित्य का भी मूलाधार है। इन्द्रियबोध का परिष्कार, इन्द्रियबोध के सहारे कला की सृष्टि—यह अटल नियम मनुष्य के सामाजिक विकास के आदि से चला आ रहा है। मनुष्य के इन्द्रियबोध में आदिकाव्य से लेकर आज तक मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। यही कारण है कि निर्झरोंका संगीत, वन-पर्वत की शोभा, मनुष्य का रूप और यौवन जैसे हजार साल पहले कवियों के लिये आकर्षक था, वैसे आज भी है। और मनुष्य के इस इन्द्रियबोध का निखार हुआ उसके सामाजिक जीवन के कारण, उसके विकास के कारण। यह इन्द्रियबोध सामाजिक परिस्थितियों में सम्भव हुआ है लेकिन वह उन का सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है। मनुष्य का इन्द्रियबोध उसके सामाजिक विकास के साथ आरम्भ नहीं हुआ, वह अपरिष्कृत रूप में उसके साथ पहले से था। इसीलिये उसे सामाजिक परिस्थितियों का सीधा प्रतिबिम्ब मानना गलत है। साथ ही इन्द्रियबोध का परिष्कार सामाजिक विकास-क्रम ही में सम्भव हुआ है, इसलिये वह समाज-निरपेक्ष नहीं है।

मार्क्सवाद ने मानव संस्कृति और समाज-व्यवस्था के परस्पर संबंधों की व्याख्या करते हुए इस बात पर ज़ोर दिया है कि 'संस्कृति सापेक्ष रूप से स्वाधीन है। यह सापेक्ष स्वाधीनता का सिद्धान्त मनुष्य के इन्द्रिय बोध की, उसकी सौन्दर्यवृत्ति की बहुत अच्छी व्याख्या करता है। यह समझना कि समाज-व्यवस्था बदलने के साथ मनुष्य का इन्द्रिय-बोध भी मूलतः बदल जाता है, निराधार कल्पना है। मनुष्य की चेतना में सब से व्यापक स्तर उस के इन्द्रियबोध का है। उस के विचार बदल जाते हैं, भाव बदल जाते हैं लेकिन उसका इन्द्रिय-बोध फिर भी अपेक्षाकृत स्थायी रहता है।

साहित्य शब्द द्वारा, चित्रों द्वारा मनुष्य को प्रभावित करता है। उसका प्रभाव दर्शन और विज्ञान से ज्यादा व्यापक इसीलिये होता है कि उस का सम्बन्ध इन्द्रिय-बोध से है। उस का माध्यम ही

रूपमय है; कल्पना के सहारे वह तरह-तरह के रूप पाठक या श्रोता के मन में जगाता है । उस का विषय वस्तु भी रूपमय है । वह चिन्तन के निष्कर्ष ही नहीं देता, जीवन के चित्र भी देता है। दर्शन और विज्ञान से भिन्न उस की निजी कलात्मक विशेषता जीवन के चित्र देने में हैं । इसीलिये मार्क्सवाद, फ़ार्मूलों के अनुसार साहित्य रचने का विरोध करता है, ऐसा साहित्य चित्रमय नहीं होता, उस के चित्रों में सजीवता नहीं होती । उस में केवल जीवन के निष्कर्ष रहते हैं, जीवन के चित्र नहीं । वह अपनी निजी कलात्मक विशेषता खो देता है ।

एंगेल्स ने कवि प्लाटेन के बारे में लिखा था; 'प्लाटेन की ग़लती यह थी कि वह अपनी बुद्धि की उपज को कविता समझता था ।" (लिटरेचर एण्ड आर्ट, ले० मार्क्स और एंगेल्स पृ० ८४) । कविता के लिये विचार काफ़ी नहीं है—प्लाटेन एक श्रेष्ठ विचारक था — उसके लिए चित्रमय कल्पना भी चाहिये ।

सामाजिक विकास और इन्द्रियबोध का परस्पर सम्बन्ध दिखलाते हुए मार्क्स ने लिखा है: "Only through the objectively unfolding richness of the human being is the richness of subjective human sensuousness, such as a musical ear, an eye for the beauty of form, in short, senses capable of human enjoyment and which prove to be essentially human powers, partly developed and partly created."

मनुष्य के वस्तुगत समृद्ध विकास से ही यह सम्भव होता है कि उसकी आत्मगत ऐन्द्रियता अंशत: विकसित हो और अंशत: रची जाय, जैसे कि संगीत प्रेम, रूप की पहचान, मानवीय भोग की क्षमता रखने वाली सभी इन्द्रियाँ, जो मूलत: मानव शक्तियाँ सिद्ध होती हैं । (उप०) ।

मनुष्य का इन्द्रियबोध अंशतः विकसित होता है, अंशतः रचा जाता है। मनुष्य की आत्मगत ऐन्द्रियता उस के वस्तुगत सामाजिक जीवन से ही विकसित और समृद्ध होती है लेकिन यह ऐन्द्रियता उस के वस्तुगत जीवन का सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है।

मनुष्य का इन्द्रियबोध उस के समूचे विकास का परिणाम है। मार्क्सका कहना है: "पाँचों इन्द्रियों का निर्माण अब तक के समूचे विश्व इतिहास का काम है।" (उप०)। मार्क्स आगे कहते हैं कि भूख से जिस के प्राण निकल रहे हों, उस के खाने में और पशु के खाने में क्या अन्तर है, यह कहना कठिन है। परेशान ग़रीब आदमी को सुन्दर से सुन्दर नाटक देखने का चाव नहीं होता। धातुओं का व्यापार करने वाला सिर्फ़ उन की बाजारू कीमत देखता है, उन की मौलिकता और सौन्दर्य नहीं।,

इस तरह जीवन की परिस्थितियाँ मनुष्य की सौन्दर्यवृत्ति को कुण्ठित भी करती हैं। मार्क्सवाद पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि उसे उपयोगितावाद के अलावा सौन्दर्य से काम नहीं। लेकिन सौन्दर्य का विरोधी कौन है, वे जो करोड़ों आदमियों को ग़रीबी और भुखमरी के हवाले कर के उन की सौन्दर्यवृत्तियाँ कुण्ठित कर देते हैं या वे जो उनके लिए भी इन्सान की ज़िंदगी चाहते हैं, उन के अधिकारों के लिए लड़ते हैं, उस समाज की रचना करते हैं जहाँ मनुष्य की सौन्दर्यवृत्ति कुण्ठित न हो कर पल्लवित हो सके? मार्क्सवाद को सौन्दर्य का विरोधी समझनेवाले सज्जन मार्क्स का यह वाक्य ध्यान से पढ़ें:

"Senses limited by crudely practical needs have only a narrow meaning."

("वे इन्द्रियाँ जो जीवन की स्थूल व्यावहारिक आवश्यकताओं से सीमित हैं अपनी सार्थकता बहुत कम कर लेती हैं।")

मार्क्सवाद ऐन्द्रियता का विरोधी नहीं है। जीवन में भोग और आनन्द का स्थान है; साहित्य में भी उसका स्थान होना चाहिए।

कवि वेर्थ के लिए एंगेल्स ने लिखा था कि वह जर्मन मजदूर वर्ग का पहला और सब से महत्वपूर्ण कवि है। फ्राइलीग्राथ से उस की तुलना करते हुए एंगेल्स ने लिखा था: "दरअसल मौलिकता, व्यंग्य और खास तौर से ऐन्द्रिय उल्लास (सेन्सुअस फ़ायर) में उस की सामाजिक और राजनीतिक कविताएँ फ्राइलीग्राथ से कहीं बढ़ कर हैं।" (उप० १११)। एंगेल्स ने उसे हाइने से भी श्रेष्ठ बतलाया और "स्वाभाविक स्वस्थ ऐन्द्रियता और शारीरिक आनन्दकी व्यंजना में," केवल गेटे को ही उस से ऊँचा दर्जा दिया।

यद्यपि इन्द्रियबोध मनुष्यों में प्रायः समान है, फिर भी उस का परिष्कार सब में एक-सा नहीं होता। ऐसे युग में जब शासक वर्ग अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चुका हो, यह बात बहुत साफ दिखायी देती है कि उसका इन्द्रियबोध अस्वाभाविक और अस्वस्थ हो जाता है। एंगेल्स ने व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य सत्ता के जन्म का विश्लेषण करते हुए यूनान के शासक वर्ग का जिक्र किया है जिन के लिए प्रेम का अर्थ केवल भोग था और जिन्हें इस की भी चिन्ता न रहती थी कि भोग का विषय नर है या नारी। दासों के स्वामी उस समय तक अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चुके थे। उन का जीवन काहिल, कामचोर, निकम्मे विलासियों का जीवन बन गया था। उन की इस सामाजिक स्थिति का प्रभाव उन की साहित्यिक रुचि पर भी पड़ा और वह विकृत और अस्वाभाविक होती गयी।

हिन्दी की रीतिकालीन कविता में नायिकाओं की भरमार, प्रकृति-वर्णन के नाम पर घिसे-मिटे अलंकार, दरबारों की उर्दू शायरी में हुस्न और इश्क की आतिशबाज़ी—ये सब सामंती शासक वर्ग की विकृत रुचि की परिचायक हैं।

यूरोप और अमरीका का पूँजीवादी वर्ग आज मध्यकालीन पतित सामन्ती ऐन्द्रियता का प्रतिनिधि बन कर उसे और भी विकृत करता जा रहा है। नग्न स्त्रियों का चित्रण, अस्वस्थ काम चेष्टाएँ, सैडिज्म और मैसोकिज्म जैसी बीमारियाँ, सनसनीखेज़ घटनाएँ, हत्या,

डकैती के रोमांचक वर्णन—पतनशील वर्ग अब इस तरह की ऐन्द्रियता में रस लेता है। उस की और जनसाधारण की साहित्यिक रुचि में ऐसी दरार पड़ गयी है जो अब पाटी नहीं जा सकती। इस रुचि के विरुद्ध तमाम प्राचीन संस्कृति की स्वस्थ परम्पराओं को अपना आधार बना कर जनरुचि को विकसित करने का काम यूरोप का मजदूर वर्ग कर रहा है।

मनुष्य के भावों और विचारों का सहज सम्बन्ध उस के इन्द्रियबोध से है। शुक्ल जी ने लिखा है : "आरम्भ में मनुष्य जाति की चेतन सत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती गयी है त्यों-त्यों मनुष्य की ज्ञान सत्ता बुद्धि-व्यवसायात्मक होती गयी है।" ("काव्य में अभिव्यंजनावाद")। मनुष्य के ज्ञान का आधार भौतिक जगत में उस का कर्ममय जीवन, उस का ऐन्द्रिय अनुभव और व्यवहार है। इन्द्रियज ज्ञान के साथ मनुष्य की भाव सत्ता का भी जन्म होता है। समाज, प्रकृति, परिवार आदि के प्रति मनुष्य की व्यावहारिक अनुभूति के आधार पर उसमें राग-द्वेष पैदा होता है। भाव और इन्द्रियबोध का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शुक्लजी के शब्दों में "प्रत्येक भाव का प्रथम अवयव विषय-बोध ही होता है।",

भावों का विकास सामाजिक विकास पर ही निर्भर है। अपने प्रथम अवयव इन्द्रियबोध के रूप में भाव आदिम समाज के मानव में भी मिलेगा, लेकिन अपने परिष्कृत मानवीय रूप में, वह विकसित समाज व्यवस्था ही में सुलभ है। मनुष्य का भाव-जगत् उतना व्यापक और सार्वजनीन नहीं है जितना उस का इन्द्रियबोध, पर उस के विचार-जगत् से वह अधिक व्यापक है। रति, घृणा, उत्साह आदि के भाव मानव सभ्यता के आदिकाल से चले आ रहे हैं और इन्हें उचित ही स्थायी भाव की संज्ञा दी गयी है। विज्ञान और दर्शन की अपेक्षा साहित्य की व्यापकता का यह दूसरा कारण है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और पितृ-सत्ता के उद्भव के बाद से पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-

बहन, पड़ोसियों आदि में जो परस्पर भाव सम्बन्ध क़ायम हुए थे—जिन का कारण आदिम समाज व्यवस्था के बाद मानव का विकास था—वे बहुत कुछ अब भी बने हुए हैं। यह भाव-जगत् बराबर समृद्ध होता गया है। मिसाल के लिये सुब्रह्मण्यम् भारती, रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द में जो उत्कट देशप्रेम मिलता है, वह मध्यकालीन कवियों के लिये दुर्लभ था। देशभक्ति की भावना का विकास हमारे नये सामाजिक विकास का ही परिणाम है।

कह सकते हैं कि रति-भाव मनुष्य में पहले से है। केवल आलम्बन बदल गया है। प्रेम तो प्रेम, चाहे रंभा और उर्वशी से हो, चाहे शंकर और विष्णु से, चाहे गंगा और गोदावरी से, चाहे देश और जनता से। इस तर्क से इतना ही सिद्ध होता है कि देश-प्रेम की क्षमता मनुष्य में पहले से थी लेकिन इस क्षमता का उपयोग आधुनिक युग की ही विशेषता है। यह स्वीकार करना होगा कि हमारा भाव-जगत् सामाजिक विकास के साथ अधिक समृद्ध और परिष्कृत होता गया है। लेकिन यहाँ भी अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चुकने वाले शासक-वर्ग भाव-जगत् को संकीर्ण और विकृत ही करते हैं। १६ वीं सदी के आस-पास यूरोप के नव-जागरण से पहले वहाँ के सामन्त वर्ग ने पुरोहितों की सहायता से कला और संस्कृति को रूढ़ियों से जकड़ रक्खा था। उन्हीं दिनों हिन्दी के दरबारी कवियों ने जहाँ चमत्कारवाद, अतिरंजित चित्रण, कृत्रिम भाव-व्यंजना का आश्रय लिया, वहाँ संत कवियों ने जन-साधारण के विस्तृत भावजगत् को चित्रित और समृद्ध किया। आधुनिक यूरोप का पूँजीपति वर्ग अपने भावों में कुसंस्कृत और पतित दिखायी देता है। जनता से भय, भविष्य के प्रति निराशा, कुढ़न और खीझ, मनुष्य से घृणा, नयी समाजवादी संस्कृति को कोसना—ये आज के पूंजीवादी भावजगत् की विशेषताएँ हैं। इस के विपरीत देशप्रेम, संसार की जनता का भाई-चारा, भविष्य में दृढ़ आस्था, आशा और उल्लास—ये शोषण से लड़नेवाली और नया समाज रचनेवाली जनता के भावजगत् की

विशेषताएँ हैं। ये विशेषताएँ गोर्की, प्रेमचन्द, रोमां रोलां से ले कर हावर्ड फास्ट, शोलोखोव, फ़ादयेव, अरागों, पाब्लो नरूदा आदि तक मिलती हैं। और यही धर्मवीर भारती के भय का कारण है। साहित्य उथला हो गया, स्थायी मूल्यों का नाश हो गया, सतही समाधान और शार्ट-कटों की भरमार हो गयी, क्योंकि टी० एस० इलियट की तरह ये लोग नहीं कहते: "हम एक अज्ञात भय से आकुल हैं जिस से हम आँख नहीं मिला सकते।" वर्तमान युग में साहित्य-कारों के आशावाद का एक ठोस आधार है—गरीबी और गुलामी के ख़िलाफ़ जनता का संगठन और संघर्ष, एक विशाल भूभाग में मेहनत करनेवालों के नये समाज की रचना। यह ठोस वास्त-विकता ही इलियटवादियों के 'अज्ञात' भय का कारण है, यद्यपि उस में अज्ञात रहस्य जैसी कोई बात नहीं है। ऐसे लोग रोने-कोसने के अलावा और कर ही क्या सकते हैं? उनके भाव जगत् की यही विशेषता है।

• भावजगत् की अपेक्षा मनुष्य के धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक विचार और जल्दी बदलते हैं। पैदावार के तरीक़े और मनुष्यों के परस्पर आर्थिक सम्बन्धों से इन का गहरा सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि शेक्सपियर या तुलसीदास के अनेक विचारों से सहमत न हो कर भी पाठक उन के साहित्य में रस लेता है। इस का यह अर्थ नहीं है कि साहित्य में विचारों की भूमिका नगण्य है या उस का सौन्दर्य इन्द्रियबोध और भावों पर ही निर्भर है। साहित्य में मनुष्य के विचारों की महत्वपूर्ण भूमिका है और इसीलिए स्थापत्य, शिल्प, चित्रकला और संगीत से उसका स्थान ऊँचा है।,

समाज-व्यवस्था के बदलने के साथ, पैदावार का तरीक़ा और मनुष्य के आर्थिक सम्बन्ध बदलने के साथ, उस के विचार भी बदलते हैं; लेकिन नयी विचारधाराओं का विकास हवा में नहीं होता, वे पहले की विचारधाराओं से अपने लिये बहुत से तत्व समेट कर अपना विकास करती हैं। मिसाल के लिए क्रांतिकारी विचारक मार्क्स ने

जर्मन दर्शन, फ्रांसीसी समाजवाद, अंग्रेजी अर्थशास्त्र की अनेक मान्य ताओं को अपनाया, इन सब का मूल्यांकन कर के मानव ज्ञानको को और समृद्ध किया। सम्पत्तिशाली वर्गों ने भी अपनी क्रांतिकार ऐतिहासिक भूमिका के समय ऐसी विचारधाराओं को जन्म दिय जिन के बहुत से तत्व आज भी मूल्यवान हैं। परम्परा और प्रगति क यह सम्बन्ध ध्यान में रखना आवश्यक है। हम पुराने साहित्यकारों से रचना-कौशल, भाव-सौन्दर्य, इन्द्रियबोध का परिष्कार ही नहीं सीख सकते, उन से विचारधारा के क्षेत्र में भी बहुत कुछ सीख सकते हैं

प्रत्येक युग के प्रमुख विचारों की छाप उस युग के साहित्य पर मिलती है। इन विचारों से मनुष्य के भाव-जगत् का गहरा सम्बन्ध होता है। कवियों के भावचित्र, विचारों की ज्योति से दीप्त हो उठते हैं। इसीलिए यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि साहित्यकार का दृष्टिकोण क्या है, सामाजिक समस्याओं को वह कैसे समझता है, उन्हें किस तरह हल करता है। उच्च साहित्य में महान् विचारों, गम्भीर भावों और सूक्ष्म इन्द्रियबोध का समन्वय मिलता है, इन का असंतुलन साहित्य के प्रभाव और उस के कलात्मक सौन्दर्य को कम करता है।

यूरोप और अमरीका का पूँजीपति वर्ग आज बुद्धि के बदले अन्धविश्वासों को प्रश्रय देता है, अपनी शोषण-व्यवस्था क़ायम रखने के लिए वह ऐसी विचारधारा का प्रचार करता है जिस का मूल आधार और उद्देश्य है—धोखा। जनता को ठगने के लिए वह सारी दुनिया में व्यक्ति की स्वाधीनता का ठेकेदार बनता है जब कि हक़ीकत में वह करोड़ों को पगार पानेवाला गुलाम बना कर रखता है और लाखों को बेकारी में मरने के लिए छोड़ देता है। सत्य से आँख चुरानेवाली विचारधारा किसी में आशा और उत्साह कैसे भर सकती है? इसीलिये उस से प्रभावित लेखकों का मूल स्वर घुटन, निराशा और पराजय का है।

मनुष्य स्वतन्त्र हो, स्वतन्त्रता से रहे, सोचे, लिखे-पढ़े, मध्यकालीन भाग्यवाद के खिलाफ़ यह विचार सामाजिक प्रगति के साथ-साथ

अधिकाधिक जनता में फैलता गया है। "फ्रीडम फ़र्स्ट" (सबसे पहले स्वतन्त्रता) वाले प्रचारक इस विचार का बड़ा तूमार बाँधते हैं; कहते हैं, समाजवादी देशों में इन्सान गुलाम है, उस की स्वाधीनता के हिमायती हम हैं। मार्क्स ने लिखा था :

"The first freedom of the press consists in its not being a business."

प्रेस की पहली आजादी उस के व्यापार न होने में है।

(उप०, पृ० ६३)।

पूँजीवादी समाज में प्रेस बराबर रुपया कमाने का साधन होता है और इसीलिये बड़े-बड़े पूँजीपति उसी तरह की विचारधाराओं को प्रोत्साहन देते हैं जो उनके धन-संचय की पद्धति का किसी न किसी तरह समर्थन करता हो। समाजवादी व्यवस्था में प्रेस पैसा बटोरने की मशीन नहीं है, उसका काम चन्द पढ़े-लिखे लोगों का मनोरंजन करना नहीं है; सार्वजनिक शिक्षा के आधार पर ज्ञान का व्यापक प्रसार और साहित्य की समृद्धि उसका उद्देश्य है।

स्वाधीनता के पूँजीवादी हिमायती हर जन-आन्दोलन में स्वाधीनता का नाश देखते हैं। उनकी स्वाधीनता ऐसी नाजुक है कि वह अन्याय और अत्याचार के ख़िलाफ़ संघर्ष सहन नहीं कर सकती। पूँजीवादी शोषण के ख़िलाफ़ रूसी जनता का संघर्ष, अमरीकी दखलंदाज़ी और सामन्ती उत्पीड़न के ख़िलाफ चीनी जनता का संघर्ष; समान अधिकारों के लिए नीग्रो जनता का संवर्ष; गोआ, ताइवान, कीन्या, मलाया, मोरक्को, वियतनाम आदि में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्ष—यह सब स्वाधीनता की लड़ाई नहीं है। उनके लिए स्वाधीनता की लड़ाई है, शान्ति और जनतन्त्र की शक्तियों को कोसना, अमरीकी युद्ध प्रचार की सहायता करना।

मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास उस के सामाजिक जीवन से ही सम्भव हुआ है, इसीलिये व्यक्ति और समाज की स्वाधीनता परस्पर विरोधी न हो कर एक दूसरे के आश्रित हैं। शोषणमुक्त समाज में

विकास की सुविधाएँ मिलने पर—काग़ज पर लिखे अधिकारों को अम
में लाने की भौतिक सुविधा मिलने पर ही मनुष्य अपनी स्वाधीनत
चरितार्थ कर सकता है। संसार के शोषितजन आज अपने राष्ट्रीय वर्गगत
और व्यक्तिगत अधिकारों के लिये संगठित हो कर लड़ रहे हैं।
उन की यह स्वाधीनता-कामना सभी अच्छे लेखकों का संबल है।

साहित्य के रूप और उस की विषय-वस्तु का बहुत गहरा सम्बन्ध है। ये एक दूसरे से एकान्त भिन्न न हो कर परस्पर सम्बद्ध, एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। कविता की भाषा, उस की चित्रमयता, छन्द-योजना आदि विषयवस्तु से तटस्थ न रह कर उसे प्रभावशाली बनाते हैं। साहित्य का शिल्प, उसके विभिन्न रूप, सामाजिक विकास से ही सम्भव हुए हैं, उस पर बहुत कुछ निर्भर हैं। यह बात आकस्मिक नहीं है कि हर प्राचीन साहित्य में महाकाव्य साहित्य का मुख्य रूप है और आधुनिक उद्योग-धन्धों की प्रगति के साथ उपन्यास साहित्य का मुख्य रूप बनाया गया है। जनता तक साहित्य पहुँचाने के साधनों में जो परिवर्तन हुए, उन का प्रभाव उस के रूपों पर भी पड़ा।

साहित्य के कलात्मक सौन्दर्य का गहरा सम्बन्ध मनुष्य के इन्द्रिय-बोध से है। इंगलैण्ड में भौतिकवाद का प्रारम्भिक विकास होते ही साहित्यशास्त्र में कल्पना (इमैजिनेशन) चर्चा का महत्वपूर्ण विषय बन गयी। कला की विशेषता उस की चित्रमयता मानी जाने लगी। इन्द्रियबोध की व्यापक सार्वजनिकता का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इस से कुछ लोगों ने यह परिणाम निकाला कि साहित्य में चित्र सौन्दर्य ही सब कुछ है। रूप और विषय वस्तु के परस्पर सम्बन्ध की अवहेलना कर के केवल रूप पर जोर देना ह्रासकालीन पूँजीवादी साहित्यकारों की विशेषता है। लेकिन रूप पर इतना जोर देने पर भी वे सुरूप साहित्य न रच सके, उन के चित्रों में वह भव्यता न पैदा हो सकी जो पहल के साहित्यकारों में मिलती है। इस का कारण यह है कि साहित्य में सजीव चित्र चाहिये, केवल रेखाएँ और रंग-रूप नहीं। शुक्लजी के शब्दों में "हृदय की अनुभूति अंगी

है, मूर्त रूप अंग—भाव प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी।", (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। हमारे अनेक प्रयोगवादी कवियों के जैसे बेजान भाव हैं, वैसे ही कुघड़ उन के काव्य-चित्र हैं।

सामाजिक परिवर्तन के समय वर्गों की रूप सम्बन्धी रुचि का भेद स्पष्ट दिखायी देने लगता है। रीतिकालीन कवियों का शिल्प एक ओर, संत कवियों और छायावादियों का शिल्प दूसरी ओर— दोनों का अन्तर स्पष्ट है। एक में चमत्कार है तो दूसरे में सहज सौन्दर्य है; एक में महीन पच्चीकारी है तो दूसरे में चित्रों और छन्दों में गरिमा, उदात्त भावव्यंजना के अनुकूल शिल्प की भव्यता। एक ही छंद का प्रयोग करने पर भी गति और शब्द-संगीत में अंतर है। पच्छिम के पूँजीवादी लेखक रूप के विचार से भी अब श्रेष्ठ रचनाएँ नहीं दे पाते। उन की विचार शृंखला टूटी हुई, चित्र भाव-शून्य, कथानक और चरित्र सामंजस्यहीन, भाषा अस्वाभाविक और दुर्बोध—उनके शिल्प की ये विशेषताएँ हैं। इस के विपरीत वे सभी लेखक जो अपनी जनता और साहित्य की जातीय परम्परा को प्यार करते हैं, अपनी लोक मंगलकारी वस्तु के अनुरूप सुन्दर शिल्प का निर्माण भी करते हैं।

ऊपर के विवेचन से ये परिणाम निकलते हैं :—

• साहित्य, आर्थिक परिस्थितियों से नियमित, होता है लेकिन उन का सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है। उस की अपनी सापेक्ष स्वाधीनता है। साहित्य के सभी तत्व समान रूप से परिवर्तनशील नहीं हैं; इन्द्रिय-बोध की अपेक्षा भाव और भावों की अपेक्षा विचार अधिक परिवर्तनशील हैं। युग बदलने पर जहाँ विचारों में अधिक परिवर्तन होता है, वहाँ इन्द्रियबोध और भावजगत में अपेक्षाकृत स्थायित्व रहता है। यही कारण है कि युग बदल जाने पर भी उस का साहित्य हमें अच्छा लगता है। यही कारण इस बात का भी है कि पुराने साहित्य की सभी बातें हमें समान रूप से अच्छी नहीं लगतीं। सब से ज्यादा मतभेद खडा होता है, विचारों को ले कर, उस के बाद भावों को

और सब से पीछे और सब से कम इन्द्रियबोध को ले कर। हमारी साहित्यिक रुचि स्थिर न हो कर विकासमान है; पुराना साहित्य अच्छा लगता है लेकिन उसी तरह नहीं जैसे पुराने लोगों को अच्छा लगा था। इसीलिये मनुष्य अपनी नयी रुचि के अनुसार नये साहित्य का भी सृजन करता है।

सामाजिक विकास-क्रम में सम्पत्तिशाली वर्गों ने एक समय अनिवार्य भूमिका पूरी की है, फिर विकास-पथ में बाधा बन गये हैं। दो विभिन्न युगों में अपने अभ्युदय और ह्रास की विभिन्न परिस्थितियों में एक ही वर्ग दो तरह के साहित्य का पोषण करता है। यूरोप का वही पूँजीपति वर्ग जो कभी तर्कसंगत ज्ञान, व्यक्ति की स्वाधीनता और नयी सौन्दर्य-वृत्ति के लिये लड़ा था, आज इन का शत्रु हो गया है, अपनी ही सांस्कृतिक विरासत को मिटाने पर तुला हुआ है। विश्वमें यह पूँजीवाद का ह्रासकाल है और श्रमिक जनता का अभ्युदय काल। इस कारण आज श्रमिक वर्ग मनुष्य की तमाम सांस्कृतिक निधि की रक्षा करना चाहता है, पूँजीपति वर्ग द्वारा निर्मित सांस्कृतिक मूल्यों का रक्षक भी वही है जब कि शासक वर्ग, आसन्न मृत्यु से आतंकित हो कर, भय, निराशा, पराजय, मानव-द्रोह और हिंसा की वृत्तियों का ही पोषक बनता जा रहा है। इसी कारण सचेत लेखक सामाजिक विकास की समस्याओं के प्रति उदासीन हो कर शान्ति, स्वाधीनता, जनतंत्र और जातीय संस्कृतिके लिये संघर्ष करते हैं। आज के युग की परिधि में वे अब तक के संचित मानव मूल्योंकी रक्षा करते हैं; इसी मार्ग पर चल कर वे इन मूल्यों को और भी समृद्ध कर के अगले युगों को एक महान विरासत के रूप में छोड़ जायँगे।

—अक्तूबर १९५५

३

* *

नस्ल, भाषा और जातीयता

व्याकरण और मूल शब्द-भण्डार के आधार पर भाषाओं का कुछ परिवारों में वर्गीकरण किया गया है। इन में से एक प्रमुख भाषा-परिवार इण्डो-यूरोपियन या आर्य कहलाता है।

जिन लोगों ने उसे यह नाम दिया है वे भी स्वीकार करते हैं कि भारत में इस के सिवा कम से कम एक महान् भाषा-परिवार और है: द्रविड़। इण्डो-यूरोपियन नाम के अन्तर्गत यह द्रविड़ परिवार नहीं लिया जाता यह स्पष्ट है। यूरोप में फ़िनो-उग्रियन परिवार भी इस से भिन्न माना जाता है और इस के अन्तर्गत नहीं लिया जाता।

इस प्रकार, और भाषा परिवारों को छोड़ भी दें तो भारत और यूरोप के दो भाषा परिवार ऐसे हैं जो इण्डो-यूरोपियन संज्ञा से बाहर जा पड़ते हैं। 'इण्डो' शब्द पर भारत की कुछ भाषाओं का एकाधिकार माना और कुछ दूसरी भाषाओं को छोड़ दिया गया, यह बात तर्क संगत नहीं जान पड़ती। इसी तरह 'यूरोप' शब्द पर ग्रीक, लैटिन, जर्मन आदि का एकाधिकार माना जाय और फ़िनो-

उग्रियन को 'यूरोपियन' संज्ञा से बाहर रखा जाय, यह बात भी तर्क-संगत नहीं है।

'इण्डो-यूरोपियन'—इस अवैज्ञानिक नामकरण के पीछे एक विशेष भाषा-परिवार का मोह और उसकी श्रेष्ठता में विश्वास देखा जा सकता है। जर्मनी और यूरोप के अन्य देशों में जहाँ तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का विकास हुआ, राष्ट्रगत श्रेष्ठता की भावना ज़ोरों पर रही है। इसी भावना से पराभूत हो कर 'इण्डो यूरोपियन,' 'इण्डो-जर्मन' आदि संज्ञाएँ रची गयीं।

भारत और यूरोप की कुछ भाषाओं की समानता के आधार पर यह कल्पना भी की गयी कि आरम्भ में एक 'आदि इण्डो-यूरोपियन' भाषा से इन भाषाओं का विकास हुआ; इस 'आदि' भाषा के बोलनेवाले एक खास रंग-रूप, आकार-प्रकार के लोग थे। और इन्हें 'आर्य नस्ल' नाम दिया गया। भाषा से नस्ल का सम्बन्ध जोड़ कर आर्य परिवार, द्रविड़ परिवार, सेमेटिक परिवार आदि की कल्पना की गयी। आदि इण्डो-यूरोपियन की तरह आदि द्रविड़, आदि सेमिटिक आदि की खोज भी शुरू हुई।

१९ वीं सदी में यूरोप की अनेक जातियों ने एशिया, अफ्रीका, अमरीका, आस्ट्रेलिया आदि पर बहुत कुछ अधिकार जमा लिया था। गोरे रंग का आदमी काले रंग के आदमी से श्रेष्ठ होता है, यह भावना उपनिवेशवादियों के अन्दर थी। यूरोप के भाषा वैज्ञानिकों ने पूँजीवाद के विश्व-व्यापी प्रसार के साथ संसार की भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध को देखा, धार्मिक अन्धविश्वासों पर टिकी हुई भाषा-सम्बन्धी धारणाओं को उन्होंने बहुत कुछ निर्मूल किया, और भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर के उन का परस्पर सम्बन्ध दिखलाते हुए व्याकरण और मूल शब्द भंडार की समानताओं के आधार पर कुछ भाषा-परिवार निश्चित कर के मानव ज्ञान को बहुत आगे बढ़ाया। इस प्रगति के साथ कुछ अवैज्ञानिक भावनाएँ और संस्कार भी जुड़े हुए थे जिन का सम्बन्ध गौर वर्ण के मनुष्य की कल्पित श्रेष्ठता से था।

१६ वीं सदी के उपनिवेशवाद के अनुरूप एक अति प्राचीन काल के उपनिवेशवाद का चित्र भी खींचा गया जिस के अनुसार आर्य नस्ल के लोग एक मूल स्थान से फैलते हुए और दूसरी नस्ल के लोगों पर विजय पाते हुए अपनी भाषा और संस्कृति का प्रसार करते गये। भारत में उन्हें द्रविड़ों, निषादों आदि का सामना करना पड़ा। इन से युद्ध करते हुए आर्यों ने इन्हें दास बनाया या शूद्र वर्ण में दाख़िल किया। इस कार्य में विशुद्ध आर्य रक्त दूषित भी हुआ और आदि आर्य भाषा द्रविड़ों और निषादों के सम्पर्क से बिगड़ती गयी और आज की हिन्दी, बँगला, मराठी आदि भाषाओं की उत्पत्ति हुई। संस्कृत को विशुद्ध आर्य संस्कृति का प्रतीक माना गया। कुछ और लोगों ने अधिक उदार हो कर संस्कृत को आर्य और अनार्य उपकरणों से बनी हुई समन्वय की भाषा कहा। एक भाषा-वैज्ञानिक के अनुसार दक्षिण में भी संस्कृत का प्रभाव फैलने से 'संस्कृत अखिल भारतीय हिन्दू राष्ट्र की एक समान आधार-शिला बन गयी।' इसी तरह जर्मन फ़ासिस्ट अपने को आर्य कहते थे और संस्कृत शब्द 'स्वस्तिक' का व्यवहार करके अपनी श्रेष्ठता घोषित करते थ तथा यहूदियों को अनार्य कह कर घृणा की दृष्टि से देखते थे।

नस्ल के साथ भाषा की पटरी बिठा कर, एक नस्ल को श्रेष्ठ और दूसरी को हीन मान कर, आदि शुद्ध नस्लों के साथ आदि शुद्ध भाषाओं की कल्पना करके ऐसे ही परिणामों पर पहुँचा जा सकता है कि यहूदियों से घृणा करना उचित है, भारतीय संस्कृति की आधार शिला हिन्दू राष्ट्रवाद है, इत्यादि। किन्तु यूरोप और भारत के सभी वैज्ञानिक इस तरह के परिणामों पर पहुँचे हों, यह बात नहीं है। कई विद्वानों ने ऐसी अवैज्ञानिक धारणाओं का तीव्र खण्डन किया है। जूलियन हक्सले और ए० सी० हैडन ने अपनी 'वी यूरोपियन्स' नामक पुस्तक में भाषा शास्त्र में आर्य शब्द के प्रवेश के बारे में लिखा है कि १८ वीं सदी के अन्त में सर विलियम जोन्स ने कुछ भाषाओं के लिए 'आर्य' शब्द का प्रयोग किया।

आगे चल कर मैक्समुलर ने इस शब्द के प्रयोग को काफी लोकप्रिय बना दिया और उस का सम्बन्ध नस्ल से भी जोड़ा गया।

इस सम्बन्ध में मैक्समुलर ने १८८८ में लिखा था: "मैं ने बार-बार कहा है कि जब मैं 'आर्य' शब्द का प्रयोग करता हूँ तो मेरा तात्पर्य रंग, हड्डी, बालों और खोपड़ी किसी से नहीं होता। मेरा मतलब सिर्फ उन से है जो कोई 'आर्य' भाषा बोलते हैं।....उन की चर्चा करते हुए उनकी शारीरिक विशेषताओं के प्रति कोई भी धारणा प्रकट नहीं करता। नीली आँखों और सुनहले बालोंवाले स्कैण्डिनेवियन विजेता रहे हों चाहे विजित, उन्हों ने अपने साँवले मालिकों की भाषा अपनाई हो चाहे इस से उल्टी बात हुई हो....मेरे लिये वह मानव-शास्त्री जो आर्य नस्ल, आर्य रक्त, आर्य आँखों और बालों की बात करता है उतना ही बड़ा पापी है जितना वह भाषा वैज्ञानिक जो लम्बी या चौड़ी खोपड़ियों के आधार पर कोश या व्याकरण बनाने बैठे।"

जर्मन भाषा वैज्ञानिकों ने कहा कि आर्य लोग गोरे और लम्बी खोपड़ी के थे; फ्रांसीसियों ने कहा कि उन की खोपड़ी चौड़ी थी और रंग जरा साँवला था। इधर विशुद्ध सन्तानोत्पत्ति का हाल यह था कि हर आठ जर्मनों में एक नाजायज पैदावार था। ऐसी स्थिति में यह पता लगाना कि किन के पुरखे शुद्ध आर्य थे, असम्भव था। जिन यहूदियों से नाजी घृणा करते थे वे भी एक नस्ल के न थे। कपाल नाप कर उन्हें एक नस्ल का सिद्ध नहीं किया जा सका।

१९ वीं सदी के आरम्भ में जोजफ द गाबीनो नाम के फ्रांसीसी विचारक ने मानव नस्लों की असमानता पर एक पुस्तक लिखी और उस में आर्य नस्ल की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। सदी के अन्त में लापज नामक दूसरे फ्रांसीसी लेखक ने आर्यों पर एक पुस्तक लिखी। जिस में उसने आर्यों को नॉर्डिक गुट का बताया। नॉर्डिक नस्ल के साथ जर्मन जाति का विशेष सम्बन्ध जोड़ा गया। लेकिन पता चला कि जर्मन संगीतकार बेठोफ़ेन, दार्शनिक कांट और लाइपनिट्स,

कवि शिलर और गेटे की खोपड़ियाँ लम्बी नॉर्डिक टाइप की न थीं वरन् बहुत गोल या काफ़ी गोल थीं। इस पर कोसिना नाम के जर्मन विद्वान ने इस बीसवीं सदी में लिखा कि नॉर्डिक आत्मा ग़ैर-नॉर्डिक शरीर में भी निवास कर सकती है। आत्मा शाश्वत मानी जाती है। इसलिये शरीर छोड़ कर उसी में शुद्ध नस्ल के तत्व ढूँढ़ना ज्यादा युक्तिसंगत भी है।

मनुष्यों का शारीरिक गठन, उन का रंग-रूप तरह-तरह का है और कपाल, नासा, वर्ण केश आदि के हिसाब से उन्हें कुछ टाइपों में बाँटा भी जा सकता है—वैज्ञानिक यह मानते हैं। लेकिन पहले तो ये शुद्ध टाइप कम मिलते हैं। यानी आर्य नासा, द्रविड़ वर्ण, मंगोल खोपड़ी आदि के सम्मिश्रण भी मिलते हैं। फिर किसी भी भाषा के बोलनेवाले एक ही टाइप के हों, ऐसा नहीं देखा जाता। मनुष्य का शारीरिक गठन, रंग-रूप भी अन्य भौतिक पदार्थों की तरह परिवर्तनशील है और प्राकृतिक परिस्थितियों तथा सामाजिक जीवन पर बहुत कुछ निर्भर है। इस के सिवा रंग-रूप के बारे में आँखें धोखा भी खा जाती हैं। हक्सले के अनुसार अधिकांश अंग्रेजों का वास्तविक वर्ण साँवला है यद्यपि गोरी जातियों में वह अपने को सब से आगे मानते रहे हैं। गाँवों और नगरों में बसने के पहले मनुष्य घुमन्तू अवस्था में रहा है। हजारों वर्षों तक वह न जाने किन-किन भूमि-भागों में घूमता रहा, कहाँ-कहाँ की स्त्रियों में वह घुला-मिला और कितने-कितने युद्ध-बंदियों को गुलाम बनाया। नस्ल की शुद्धता, मानव विकास के आदि काल से ही क़ायम नहीं रही। अंग्रेज विद्वान् टॉम्सन ने यूनान की प्राचीन संस्कृति का अध्ययन करते हुए हर देश के क़बीलों की इस प्रथा का उल्लेख किया है कि कुछ रस्में पूरी करने के बाद वे बाहरी लोगों को अपने में शामिल करते हैं। शुद्ध नस्लों की कल्पना के सहारे न तो मानव समाज का विकास समझा जा सकता है न भाषाओं का विकास। हक्सले और हैडन ने ठीक लिखा है कि मानव-समूहों पर जो 'नस्ल'

शब्द लागू किया जाता है उसे विज्ञान की शब्दावली से बाहर कर देना चाहिये।

भारतीय विद्वान् डॉ० भूपेन्द्र नाथ दत्त ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज़ इन इण्डियन सोशल पॉलिटी' में एक और भी उचित तथा मूलभूत प्रश्न किया है: इसका सबूत क्या कि मूल भारतीय आर्य श्वेत वर्ण के थे? वर्ण शब्द का मूल अर्थ रंग था इस का भी प्रमाण क्या? और वैदिक भाषा बोलनेवाले एक-से वर्ण और एक-सी शारीरिक गठन के थे इस का भी कोई प्रमाण नहीं। इस के विपरीत हमारे महाकाव्यों के अनेक नायक साँवले बताये गये हैं। रिज्ले ने एक थियॅरी निकाली थी कि भारत के लोगों का सामाजिक स्तर (वर्ण-जाति आदि के हिसाब से) उतना ही ऊँचा नीचा होगा जितनी लम्बी या चिपटी उन की नाक होगी। डॉ० दत्त ने दिखाया है कि यहाँ के किसी भी वर्ण में एक ही रंग या शारीरिक गठन के लोग नहीं हैं, उनमें बड़ी विभिन्नता है। डॉ० दत्त के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं: "आज के संसार में किसी भी भाषा को बोलने-वाले लोग या जातियाँ नस्ल के विचार से एक रूप नहीं हैं; इन्सान की शुद्ध नस्ल जैसी कोई वस्तु नहीं है।"

कल्पित आर्य नस्ल की श्रेष्ठता के अनुरूप दूसरी पिछड़ी हुई नस्लों पर उस के अभियान और विजय की कल्पना की गयी। नॉर्डिक नस्ल की अवैज्ञानिक धारणा का खण्डन करते हुए डॉ० दत्त ने इस सम्बन्ध में लिखा है: "यूरोपवालों की यह स्थापना कि उत्तरी यूरोप या किसी दूसरे उत्तरी प्रदेश से भारत पर नॉर्डिक आक्रमण हुआ और काले आदि-वासियों से संघर्ष होने पर रंग-रूप के अनुसार सामाजिक वर्ग बने, इसे निराधार ही नहीं वरन् जर्मन राष्ट्रवाद की गढ़ी हुई कल्पना भी मानना चाहिए।" इस के विपरीत एशिया से यूरोप की ओर प्राचीन काल में जो घुमन्तू जन जाते रहे हैं उस पर भी विद्वानों के मत विचारणीय हैं।

हक्सले और हैडन लिखते हैं: "ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत प्राचीन काल से मध्य यूरोप के पहाड़ी इलाकों में एक दूसरी और स्पष्ट शारीरिक गठन वाले लोग रहते रहे हैं जिन की खोपड़ी चौड़ी थी और जिन के लिए आम तौर से माना जाता है कि वे एशिया माइनर से आये थे।" डार्मस्टेटर का मत था कि अवेस्ता में जिन देवताओं का वर्णन मिलता है वे मूलतः भारत के हैं और १५ वीं सदी ई० पू० में भारतीय जन ईरान गये थे। पार्जिटर का मत इस से मिलता जुलता है। गॉर्डन चाइल्ड ने 'एर्यन्स' में इन दोनों का विरोध किया है। तर्क यह है कि आर्यों के लिए दक्षिण भारत ही जीतने के लिए पड़ा था तो वे अफ़गानिस्तान में क्यों भटकने जाते? भारत से जा कर मध्य-एशिया में बसनेवालों के बारे में चेक विद्वान् हौज़्नी ने 'एन्शिएण्ट हिस्ट्री ऑफ़ वेस्टर्न एशिया, इण्डिया एण्ड क्रीट' में चित्र लिपि वाले हित्तियों का ज़िक्र करते हुए लिखा है: "तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध में भारतीयों ने उत्तर-पश्चिमी भागों पर अधिकार कर लिया और वहाँ वे पहली बार भारत में जन्म लेनेवाली एक ऊँचे स्तर की संस्कृति लाये।"

इन उद्धरणों से पता चलता है कि कुछ विद्वानों के अनुसार पूर्व से भी लोग पश्चिम की ओर जाते रहे हैं, केवल पश्चिम से पूर्व की ओर नहीं आते रहे। यहाँ यह भी विचारणीय है कि क्या लैटिन की कुछ ध्वनियाँ भारतीय भाषाओं की ध्वनियों से अधिक प्राचीन हैं। उदाहरण के लिए क्या हम 'एकुअस्' को 'अश्व' का या 'पेंके' को 'पंच' का पूर्व रूप मान सकते हैं? लैटिन में 'श' और 'च' की ध्वनियाँ नहीं हैं, इसलिए यदि कहीं से वह 'पंच' शब्द लेगी तो 'च' को 'क' में बदल कर ही। किसी के यहाँ 'श' और 'च' की ध्वनियाँ न हों और उन के बदले वह 'क' का प्रयोग करे यह बात तो समझ में आती है, लेकिन जिस भाषा में 'श', 'च' और 'क' ये तीनों ध्वनियाँ हों वह क्यों एक जगह 'क' को 'श' और दूसरी जगह 'क' को 'च' करेगी और सैकड़ों शब्दों

में 'क' ही बना रहने देगी, यह बात समझ में नहीं आती ? इसलिये ध्वनि-परिवर्तन के प्रमाण भी पुष्ट नहीं ठहरते और उन से पश्चिम से पूर्व की ओर आर्यों की विजय-यात्रा सिद्ध नहीं होती।

यह कल्पना की गयी है कि भारत में द्रविड़ों के सम्पर्क से मूल आर्य भाषा में 'ट वर्ग' की ध्वनियों का विकास हुआ। इस में असम्भव कुछ नहीं, केवल प्रश्न यह उठता है कि जर्मन, अंग्रेजी आदि आर्य परिवार की भाषाओं में भी 'ट, ड' की ध्वनियाँ क्या द्रविड़ प्रभाव से उत्पन्न हुईं ? ऐसा अभी तक पढ़ने में नहीं आया कि जर्मन गुट की भाषाओं पर द्रविड़ परिवार का असर माना गया हो। यद्यपि असम्भव इस में भी कुछ नहीं। मूल आर्य भाषा में 'ज़' की ध्वनि मानी गयी जो संस्कृत में लुप्त हो गयी या बदल कर 'ज' हो गयी। पूर्वी बंगाल, तेलगू, मराठी आदि भाषाओं में 'ज़' की ध्वनि विद्यमान है। यों आर्य-पूर्व भारतीय प्रभावों से 'ज़' का लुप्त होना या 'ज' में बदलना सिद्ध नहीं होता।

दक्षिण भारत की भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण लेखक कॉल्डवेल का यह प्रश्न भी याद रखना चाहिये कि यदि द्रविड़-प्रधान देश में आर्य आये और यहाँ की द्रविड़ भाषाओं से प्रभावित हुए, तो संस्कृत या उत्तर भारत की अन्य भाषाओं में द्रविड़ परिवार की मूल धातुएँ क्यों नहीं मिलतीं ? कॉल्डवेल के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि उत्तर भारत की भाषाओं के अनार्य उपकरण द्रविड़ ही हों। उन्हों ने लिखा है: "यदि उत्तरी भाषाओं में संस्कृत से भिन्न उपकरण द्रविड़ होते तो हम यह भी आशा कर सकते थे कि उनके शब्द भण्डार में कुछ मूल द्रविड़ धातुएँ भी हों—जैसे कि सिर, पैर, आँख, कान आदि के लिए शब्द—लेकिन इस तरह के शब्दों में कोई विश्वसनीय समानता मुझे नहीं दिखाई दी।

मूल आर्य भाषा भारत में आ कर कैसे बदली इस का एक उदाहरण यह भी दिया जाता है कि 'ए, ओ' की ध्वनियाँ 'अ' में परिवर्तित हो गयीं—जैसे ग्रीक 'देदोर्क' संस्कृत में 'ददर्श' हो गया।

लेकिन हिन्दी और उस की अनेक बोलियों में एकार-ओकार से शुरू होने वाली क्रियाएँ भरी पड़ी हैं—जैसे 'ददर्श' का ही समानार्थक 'देखा'।

इसलिये अभी यह मत कि मूल आर्य भाषा पश्चिम से यहाँ आयी और उसमें द्रविड़ों के सम्पर्क से ऐसे ध्वनि-परिवर्तन हुए कि उस का रूप ही बदल गया, वैज्ञानिक और तर्क-सिद्ध नहीं माना जा सकता।

भाषा-सम्बन्धी विवेचन में अनेक असंगतियों का कारण किसी न किसी रूप में नस्ल और भाषा का सम्बन्ध जोड़ना है। एक आर्य नस्ल और उस की आदि आर्य भाषा, एक आदि द्रविड़ नस्ल और उस की आदि द्रविड़ भाषा, फिर आर्य भाषा में जो परिवर्तन हुए उनकी नस्लों के सम्मिश्रण के आधार पर व्याख्या। लेकिन मानव समाज नस्ल के आधार पर कभी संगठित हुआ हो इस का प्रमाण नहीं है। आदिम समाज-व्यवस्था में जब उत्पादन के साधन पिछड़े हुए थे, मनुष्य मातृसत्ताक जनों में संगठित रहा है। उस के बाद जैसे-जैसे उत्पादन के साधन विकसित हुए, व्यक्तिगत सम्पत्ति और वर्ग पैदा हुए, मानव समाज पितृसत्ताक जनों में संगठित हुए। ये पितृसत्ताक जन पुराने पितृसत्ताक जनों के विशृङ्खल होने से उन्हीं के तत्वों से संगठित हुए थे।

मानव समाज से बाहर भाषा की सत्ता नहीं है। प्राचीन भाषाएँ इन्हीं जनों की भाषाएँ रही हैं। नस्ल के आधार पर संगठित न तो कोई मानव समाज था, न उसकी कोई भाषा थी। नस्ल का सूत्र छोड़कर सामाजिक संगठन के रूपों को ध्यान में रखते हुए भाषाओं का अध्ययन करना अधिक युक्ति-संगत होगा। प्राचीन पितृसत्ताक जनों से मिल कर उन के संघ बने जहाँ परस्पर व्यवहार के लिए किसी एक जन की भाषा का प्राधान्य हुआ। उदाहरण के लिए प्राचीन ग्रीस में अनेक भाषाएँ बोलनेवाले जन थे, उनमें ऐटीका की भाषा प्रधान भाषा बनी और उसी को हम आज प्राचीन ग्रीक

भाषा कहते हैं। इसी तरह भारत में एक-दूसरे से मिलती-जुलती भाषाएँ बोलनेवाले जनों में से एक जन की भाषा के आधार पर संस्कृत का विकास हुआ।

'आर्य' भारत में पहले से रहते आये हों चाहे बाहर से आये हों, यह निर्विवाद है कि वे विभिन्न जनों में विभक्त थे और एक-दूसरे से मिलती-जुलती भाषाएँ बोलते थे। इस सत्य को वे लोग भी स्वीकार करते हैं जो आदि आर्य या आदि द्रविड़ भाषा की कल्पना करते हैं। फ्रान्सीसी भाषा वैज्ञानिक मेइये का कहना है कि ऋग्वेद की भाषा एक पश्चिमी बोली के आधार पर विकसित हुई थी। सुनीति बाबू का विचार है: "आर्यों की भिन्न-भिन्न शाखाएँ समय-समय पर भारत में आयी थीं और प्रत्येक शाखा की बोली एक दूसरे से कुछ भिन्न थी।" इस भिन्नता को ध्यान में न रख कर उत्तर भारत की सभी भाषाओं को अब संस्कृत से ही निकली हुई सिद्ध करने की कोशिश की जाती है, तब अक्सर दूर की कौड़ी लाने की जरूरत पड़ती है। बंगला, हिन्दी, मराठी, पंजाबी, आदि भाषाएँ शब्द-भण्डार में एक दूसरे से निकट होते हुए भी व्याकरण के रूपों में बहुत कुछ भिन्न हैं। भाषा वैज्ञानिक कोशिश करते हैं कि संस्कृत के एक रूप से आधुनिक भाषाओं के भिन्न-भिन्न व्याकरण रूपों को निकला हुआ सिद्ध करें। यदि प्राचीन जनों की भाषाओं की विभिन्नता याद रहे, यह ध्यान रहे कि संस्कृत अनेक जनों की मिलती-जुलती भाषाओं में से एक के ही आधार पर विकसित हुई थी, तो दूर की कौड़ी लाने की नौबत न आये। ए० एच० सेस ने बहुत ठीक लिखा है: "यह भी याद रखना चाहिए कि मूल आर्य भाषा उन अनेक मिलती जुलती बोलियों या भाषाओं में से एक थी जो अन्यत्र नष्ट हो गयी हैं।" (इण्ट्रोडक्शन टु दि सायंस ऑफ लैंग्वेज, लन्दन १८९० दूसरा भाग पृ० ३२०—२१)

प्राचीन जनों और जन-संघों के विघटन और मिलन से मध्य काल के जनपद बने। बुन्देलखण्ड, ब्रज, अवध, मिथिला आदि इसी

तरह के जनपद हैं। इनके निवासी पुराने जनों की तरह रक्त सम्बन्ध मान कर संगठित न थे वरन् संगठन का आधार सामन्ती समाज का श्रम विभाजन और वर्ण व्यवस्था थी। पुराने जनों की भाषाओं के आधार पर इन की जनपदीय भाषाओं का विकास हुआ। मध्य-काल की समाप्ति के समय बढ़ते हुए व्यापारी सम्बन्धों के कारण इन जनपदों का अलगाव कम होना शुरू हुआ। इन में से एक जन-पदीय बोली विकसित होकर जाति भाषा बनने लगी। सामन्ती समाज के ह्रास काल में पूँजीवाद सम्बन्धों की बढ़ती के साथ विभिन्न जनपदों के विघटन और संघटन के आधार पर जाति का निर्माण होता है। इस जाति की भाषा किसी एक जनपद की बोली के आधार पर ही विकसित होती है, लेकिन दूसरी जनपदीय भाषाएँ अब स्वतन्त्र भाषाएँ न रह कर मुख्य जातीय भाषा की बोलियाँ बन जाती हैं। इसी क्रम के कारण बुन्देलखण्ड, अवध आदि की भाषाएँ खड़ी बोली के प्रसार के सामने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो कर हमारी जातीय भाषा हिन्दी की बोलियाँ बन गयीं। इस जातीय भाषा के विकास में अवधी, ब्रज, भोजपुरी आदि ने भी योग दिया यद्यपि खड़ी बोली के मूल व्याकरण में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। आगे पाँच सौ साल बाद कोई यह दिखाये कि ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि की उत्पत्ति खड़ी बोली से हुई है तो यह कितना हास्यास्पद होगा इसकी हम कल्पना कर सकते हैं।

निष्कर्ष यह कि नस्ल के आधार पर मानव-समाज संगठित नहीं हुआ। आदि आर्य नस्ल और आदि आर्य भाषा की कल्पना युक्तिसंगत नहीं है। संस्कृत और उससे मिलती-जुलती भाषाओं का विकास द्रविड़ भारत पर आर्यों की विजय की कल्पना से समझ में नहीं आ सकता। मानव समाज के संगठन के जो रूप रहे हैं 'क्लीन ट्राइब नैशनैलिटी' उन्हीं के अनुसार भाषाओं में भी समानता और भेद रहा है। इसी सूत्र के सहारे जातीय भाषाओं के विकास को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

अन्त में यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि कोई भी भाषा-परिवार अन्य परिवारों से बिल्कुल अलग रह कर एकान्त में विकसित नहीं हुआ। विभिन्न भाषा-परिवारों का परस्पर क्या सम्बन्ध है और एक दूसरे के विकास में उन्होंने क्या योग दिया, इस पर इधर के भाषा वैज्ञानिक कम ध्यान दे रहे हैं। किसी समय ईसाई धर्म के प्रभाव से हिबरू को आदि भाषा मान कर सभी भाषाओं को उस से निकली हुई सिद्ध करने की कोशिश की गयी थी। वह कार्य अब बन्द हो गया है, लेकिन किसी भाषा-परिवार को नस्ल के आधार पर निरपेक्ष रूप से स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। घुमन्तू जनों ने अपने दीर्घ जीवन और भाषाओं के लम्बे विकास क्रम में कहाँ-कहाँ से उपकरण जुटाये, यह भी अध्ययन का विषय हो सकता है।

भाषाओं के परस्पर विनिमय के बारे में सेस ने लिखा है: "तुलनात्मक भाषा-विज्ञान इस बात में भूविज्ञान, प्रागैतिहासिक पुरातत्व और मानव शास्त्र से सहमत है कि भाषा का व्यवहार करनेवाला मानव बहुत ही दीर्घ काल से अस्तित्व में है। यह सुदीर्घ काल ही बतलाता है कि भाषाओं में परस्पर मिलन और विनिमय हुआ है और साथ ही समस्त संसार में न जाने कितनी बोलियाँ खत्म हो गयी हैं।"

इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि जन शब्द चीनी, संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि में समान रूप से विद्यमान है, सर्वनाम अन् अरबी भाषा परिवार के साथ रूसी में मौजूद है, नः या नस् संस्कृत, तमिल, रूसी, लैटिन, फ्रेंच आदि में है, गंगा शब्द कांग या क्यांग के रूप में चीनी और उस परिवार की अन्य भाषाओं में है।

इस दृष्टि से भाषाओं का अध्ययन करने पर एशियाई भाषाओं के परस्पर शब्दों का पता चलेगा। विशेष रूप से उत्तर और दक्षिण भारत की भाषाएँ अरबी, रूसी चीनी आदि के परिवारों से क्या समानताएँ रखती हैं, इसका पता चलेगा। दक्षिण और मध्य-एशिया की जातियाँ एक दूसरे के कितना निकट रही हैं, इसका प्रमाण

पुरातत्व से भी मिलता है। इस सम्बन्ध में हौज़नी का यह कथन ध्यान देने योग्य है: "सुदूर पूर्व के नव पाषाण युग की विशेषता तथाकथित चित्रित मिट्टी के बर्तन हैं। लेकिन इस लिहाज़ से निकट पूर्व अपवाद नहीं है। इस के विपरीत वह एक विस्तृत यूरोप-एशियाई प्रदेश का ही अंग है। बोहीमिया और मोराविया, येसली और सिसिली से ले कर पूर्व में चीन के कान्सू और होनान प्रान्तों और दक्षिण-पूर्वी मंचूरिया तक फैला हुआ है। यद्यपि यह विशाल भूखण्ड छोटे-छोटे प्रदेशों में बँटा हुआ है फिर भी एक विशाल इकाई पर विचार करना होगा, जिस का मूलस्रोत किसी एक जगह होगा जहाँ से विभिन्न जनों के भ्रमण से और परस्पर आर्थिक विनिमय से मिट्टी के चित्रित बर्तन सब दिशाओं में फैले।" (ऐन्शेन्ट हिस्ट्री ऑफ़ वेस्ट एशिया, इण्डिया ऐण्ड क्रीट, पृ० २२३)।

इस सम्बन्ध में ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि एशिया के विभिन्न भाषा परिवारों के परस्पर सम्बन्ध पर फिर विचार किया जाय। नस्लों के आधार पर इन्हें एक दूसरे से विच्छिन्न माना जाता है। वास्तव में वे एक दूसरे से इतने अलग नहीं हैं। उन का परस्पर सम्बन्ध एशियाई जनता की एकता सूचित करता है।

—अगस्त १९५५

४

* *

जन आन्दोलन और बुद्धिजीवी वर्ग

क्या समाज में 'बुद्धिजीवी वर्ग' नाम का कोई अलग वर्ग होता है जिस के आर्थिक सम्बन्ध सर्वहारा, मध्यम वर्ग या पूँजीवादी वर्ग से अलग होते हैं?

नहीं, इस तरह का अलग बुद्धिजीवी वर्ग नहीं होता। बुद्धि-जीवी मध्यम वर्ग के होते हैं या पूँजीवादी वर्ग के या सर्वहारा वर्ग के। जब हम किसी को 'पेटी बुर्जुआ इंटलेक्चुअल' (मध्यवर्गी बुद्धिजीवी) कहते हैं, तो हमारा मतलब उस की मध्यवर्गी ज़हनियत से होता है। जब हम किसी को सर्वहारा या सोशलिस्ट कहते हैं तो हमारा मतलब यह होता है कि उस ने सर्वहारा वर्ग और समाजवाद की ज़हनियत को अपना लिया है। सामाजिक दृष्टि से कार्ल मार्क्स और एंगल्स पूँजीवादी बुद्धिजीवियों में से थे। 'क्या करें' में लेनिन ने लिखा है: "अपनी सामाजिक स्थिति के हिसाब से आधुनिक समाजवाद के जन्मदाता खुद पूँजीवादी बुद्धिजीवी वर्ग के थे।" (मार्क्स-एंगेल्स-मार्क्सिज़्म, पृ० १२६)। वे वैज्ञानिक समाजवाद के जन्मदाता

थे, इसलिये उन्हें सोशलिस्ट बुद्धिजीवी या सर्वहारा बुद्धिजीवी कहना उचित होगा।

वे बुद्धिजीवी, जो समाजवाद की ज़हनियत अपनाते हैं, मज़दूर वर्ग की बहुत बड़ी सेवा कर सकते हैं। वे पूँजीवादी गुलामी खत्म कर के समाजवाद क़ायम करने में बहुत बड़ी मदद कर सकते हैं। दर असल बुद्धिजीवियों की मदद के बिना अकेला मज़दूर वर्ग--जो अकेला होन से समाजवाद के सिद्धान्तों तक पहुँच न पायेगा--न तो पूँजीवाद को खत्म कर सकता है, न समाजवाद ला सकता है। इसलिये क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों को अपना महत्व कम कर के न आँकना चाहिये। १९वीं सदी में रूसी मज़दूरों की हड़ताल का जिक्र करते हुए लेनिन ने लिखा था :--

"हम ने कहा है कि इस समय तक मज़दूरों में सोशल डिमौक्रै-टिक चेतना न आ सकती थी। उन में यह चेतना बाहर से ही लायी जा सकती थी। तमाम देशों का इतिहास बताता है कि मज़दूर वर्ग, अकेले अपनी कोशिश से, सिर्फ ट्रेड यूनियन चेतना विकसित कर सकता है यानी वह खुद इस ज़रूरत को महसूस कर सकता है कि यूनियनों में शामिल होना चाहिये, जिस से कि मालिकों के खिलाफ़ लड़ा जा सके और सरकार पर यह दबाव डालने की कोशिश की जाय कि वह ज़रूरी लेबर-क़ानून बनाये, बग़ैरह। [लेनिन का फुट-नोट : ट्रेड यूनियनिज़्म से 'राजनीति' एक दम बाहर नहीं है, जैसा कि कुछ लोगों का खयाल है। ट्रेड यूनियनों ने हमेशा राजनीतिक आन्दोलन (agitation) और संघर्ष चलाया (लेकिन यह आन्दोलन और संघर्ष सोशल डिमौक्रैटिक नहीं रहा)। हम सोशल डिमौक्रैटिक और ट्रेड यूनियन राजनीति के भेद पर अगले अध्याय में लिखेंगे]। फिर भी समाजवाद के सिद्धान्त उन दार्शनिक, ऐतिहासिक और आर्थिक सिद्धान्तों से निकले हैं, जिन्हें सम्पत्तिशाली वर्गों के प्रतिनिधियों ने, बुद्धिजीवियों ने विकसित किया था।" (मार्क्स-एंगेल्स-मार्क्सिज़्म; पृ० १२६)। इस के बाद लेनिन

न मार्क्स, एंगेल्स श्रौर रूसी बुद्धिजीवियों की मिसाल दी है जिन्हों ने समाजवाद की नींव डाली श्रौर उसे मज़दूरों तथा क्रान्तिकारी नौजवानों तक पहुँचाया। इस से बड़ा महत्व बुद्धिजीवियों का श्रौर क्या हो सकता है? बुद्धिजीवियों ने समाजवादी सिद्धान्त रचे श्रौर मज़दूर श्रान्दोलन से उन्हें जोड़ कर पूँजीवाद की कड़ियाँ तड़काना शुरू कर दिया।

जिस रास्ते मार्क्स, एंगेल्स श्रौर रूस के बुद्धिजीवी चले थे, वह क्रान्ति का कठिन रास्ता था; उस पर चलने के लिए निहायत ईमानदारी, धीरज, त्याग श्रौर बलिदान की ज़रूरत थी।

मार्क्स, एंगेल्स श्रौर लेनिन मनुष्य जाति के महान् चिन्तक ही नहीं थे; वे मनुष्य जाति का भाग्य पलटने वालों में से थे। उन्हें श्रपने चिन्तन के लिये भौतिक सुविधाएँ प्राप्त न थीं। देश-विदेश में भटकते हुए, ग़रीबी श्रौर मुसीबतों का सामना करते हुए, पूँजीवादी लखकों के एक साथ फेंके हुए कीचड़ का सामना करते हुए, इन क्रान्तिकारियों ने मार्क्सवाद को रचा था श्रौर उसे भरा-पूरा बनाया था। बुद्धिजीवियों के सामने इन से श्रच्छी श्रौर कोई मिसाल नहीं हो सकती जिन से वे प्रेरणा लें श्रौर जिन के बताये हुए रास्ते पर चलें।

उन की मिसाल से एक बात साफ है। मज़दूर-वर्ग का साथ दे कर ही बुद्धिजीवी श्रपने चिन्तन को उपयोगी बना सकता है। श्रौर सब रास्ते उसे पतन श्रौर गुलामी की तरफ ही ले जायेंगे। इसीलिये बुद्धिजीवियों को श्रपना महत्त्व बढ़ा-चढ़ा कर न देखना चाहिये कि वे समझने लगें कि समाज के क्रान्तिकारी वर्ग—मज़दूर वर्ग—का साथ न दे कर भी वे श्रपना महत्व कायम रख सकेंगे। वे साहित्य श्रौर संस्कृति के निर्माता उसी हद तक हैं जिस हद तक वे समाज के पीड़ित वर्गों के साथ हैं। मज़दूर-वर्ग से विमुख होने पर उन का बुद्धिजीवीपन कौड़ीमोल का भी न रह जायगा।

बुद्धिजीवी मज़दूर वर्ग का साथ कैसे दे सकते हैं? उन्हें किन खामियों को दूर करना चाहिये श्रौर कौन-सा दृष्टिकोण श्रपनाना

चाहिये ? अपनी पुस्तक "ये 'जनता के दोस्त' क्या हैं ?" में लेनिन ने लिखा था :

"सोशलिस्ट बुद्धिजीवी तभी उपयोगी काम कर सकते हैं जब वे अपने भरम दूर कर दें और अपने पैर रूस के वास्तविक न कि ख़याली विकास पर, समाज के वास्तविक न कि मुमकिन आर्थिक सम्बन्धों पर रोपें।" (उप० पृ० ६०) ।

बुद्धिजीवियों में तरह-तरह के भरम होते हैं जिन का दूर करना ज़रूरी है। एक भरम यह है कि हम सिद्धान्त रचना करते हैं, हम साहित्य लिखते हैं, हम विज्ञान की सृष्टि करते हैं, हमें वर्गों के संघर्ष से क्या मतलब। लेनिन ने बताया था कि मार्क्सवाद वैज्ञानिक सिद्धान्त ही नहीं है, वह क्रान्तिकारी सिद्धान्त भी है; यानी समाज की असंगतियाँ बता कर वह उन्हें बदलने की राह भी दिखाता है। मार्क्सवादी विज्ञान का यह लक्ष्य ही है कि वह पीड़ित वर्ग की मुक्ति पाने के संघर्ष में उस की मदद करे (उप०,पृ० ६६–६७) । यह बात मार्क्सवादी विचारक, लेखक और कलाकार पर भी लागू होती है। उस के चिन्तन, लेखन और कला का लक्ष्य यह होना चाहिये कि पीड़ित वर्ग मुक्ति पाये। समाजवादी व्यवस्था में उस का लक्ष्य व्यवस्था को पुष्ट और विकसित करना हो जाता है। मार्क्सवादी दर्शन क्रान्तिकारी दर्शन है। वह समाज की गति को समझने और उसे बदलने का दर्शन है। इसलिये उसे अपनाने वाला बुद्धिजीवी—और उसे अपना कर ही बुद्धिजीवी सही रास्ता पा सकता है—वर्ग संघर्ष से दूर नहीं रह सकता।

बुद्धिजीवियों को यह भरम हो सकता है कि उन की यह विचारधारा सामाजिक परिस्थितियों से परे है और वे उन से ऊपर उठ कर अपनी सिद्धान्त-रचना कर सकते हैं। विचारधारा विचारों की धारा है इसलिये वे उस का उद्गम शुद्ध विचारों में मान सकते हैं। जब एक विचारक अपने से पहले के विचारकों की धारणाएँ खण्डित करता है, तब यह विजय शुद्ध विचार क्षेत्र की समझी जाती है। एंगेल्स ने इस पर

व्यंग्य किया है कि "अगर रिचार्ड द लायन हार्ट और फिलिप आगस्टस यैरूशलम की लड़ाइयों में फँसने के बदले फ्री ट्रेड (स्वच्छन्द व्यापार) का चलन कर देते, तो ५०० साल की मूर्खता और मुसीबतों से हम बच जाते।" (मेरिंग को खत, १४ जुलाई १८९३)।

मनुष्य की विचारधारा का मूल स्रोत शुद्ध विचार न हो कर समाज की आर्थिक व्यवस्था होती है। मार्क्स ने 'क्रिटिक ऑफ़ पोलिटिकल इकौनौमी' की भूमिका में लिखा था : "सामाजिक उत्पादन के सिलसिले में मनुष्य ऐसे सम्बन्ध स्थापित करते हैं, जो उन की इच्छा और अनिच्छा पर निर्भर नहीं होते। ये उत्पादन सम्बन्ध किस तरह के हैं, यह इस बात पर निर्भर है कि उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ किस हद तक विकसित हुई हैं। इन उत्पादन-सम्बन्धों का बटोर समाज का आर्थिक ढाँचा कहलाता है। यही वह वास्तविक आधार है जिस के ऊपर कानून और राजनीतिक महल खड़ा किया जाता है। इसी आधार के अनुकूल सामाजिक चेतना के विभिन्न रूप होते हैं।"

इस का यह मतलब नहीं है कि मनुष्य की विचारधारा का असर आर्थिक ढांचे पर नहीं पड़ता। "राजनीतिक, क़ानूनी, दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक, कलात्मक आदि विकास का आधार आर्थिक विकास है। लेकिन इन सब का एक दूसरे पर असर पड़ता है और आर्थिक आधार पर भी इन का असर पड़ता है।" (एंगेल्स का स्टार्केनबुर्ग को खत)।

इसलिये यह भरम दूर करना चाहिये कि बुद्धिजीवी समाज के आर्थिक ढाँचे से ऊपर उठ कर अपनी सिद्धान्त-रचना या साहित्य-रचना या कला की रचना कर सकते हैं। वे अपने साहित्य और कला से सामाजिक परिस्थितियों पर तभी ज़बर्दस्त असर डाल सकते हैं जब वे इन परिस्थितियों को समझें और उन के बदलते हुए रूप को अपनी रचनाओं में जगह दें।

एक भ्रम यह हो सकता है कि पूँजीवाद ने जो मानदण्ड कायम किये हैं, वे शाश्वत हैं। लेनिन ने पूँजीवादी दार्शनिकों की एक विशेषता यह बतायी थी कि वे पूँजीवादी व्यवस्था के मानदण्डों को शाश्वत मान बैठते हैं। "पूँजीवादी दार्शनिकों की यह सब से बड़ी विशेषता है कि वे पूँजीवादी व्यवस्था की मान्यताओं (Categories) को शाश्वत और प्राकृतिक जैसी (As something eternal and natural) मान लेते हैं।" ("ये 'जनता के दोस्त' क्या हैं") ।

एंगेल्स ने ऐंटी ड्यूरिंग में दिखाया है कि १८वीं सदी के फ्रांसीसी विचारकों की शाश्वत समानता, शाश्वत न्याय वगैरह दर-असल पूँजीवादी समानता, पूँजीवादी न्याय वगैरह थे। जब तक बुद्धिजीवी शाश्वत सत्यों की धारणा से पीछा नहीं छुड़ाते, तब तक उनके लिए यह सम्भव न होगा कि वे अपने साहित्य और कला से मज़दूर-वर्ग का साथ दें और उस के साथ मिल कर समाज को बदलें।

पूँजीवादी वर्ग यह भय खड़ा करता है कि अगर मौजूदा व्यवस्था बदल गयी तो समाज के तमाम नैतिक मूल्य, तमाम पुरानी संस्कृति और जनतन्त्र की तमाम परम्पराएँ ख़त्म हो जायँगी। दर-असल पूँजीवाद अपने पतन काल में खुद ही उन परम्पराओं को ख़त्म करने लगता है जो उस के अभ्युदयकाल में पैदा हुई थीं। सर्वहारा-वर्ग पूँजीवाद की इन विरासत की रक्षा करता है, उस का मूल्यांकन करता है और उसे आगे बढ़ाता है।

मार्क्स ने कम्युनिष्ट घोषणा पत्र में लिखा था: "पूँजीवादी-वर्ग ने हर पेशे की इज्ज़त उतार ली है। अब तक लोग जिन पेशों को श्रद्धा से देखते और उनका आदर करते थे, उन का गौरव ख़त्म हो गया है। उस ने डाक्टर, वकील, पुरोहित, कवि, वैज्ञानिक को पगार कमानेवाला मज़दूर बना दिया है।" अगर बुद्धिजीवी, पूँजीवादी गुलामी को गुलामी नहीं समझते तो कहना पड़ेगा कि वे गुलाम बने रहना अपने लिये एक गौरव की बात समझते हैं। सर्वहारा वर्ग

पूँजीवादी गुलामी को ख़त्म कर के उन्हें आज़ाद करने की क्षमता रखता है।

मार्क्स ने लिखा था: "जिस तरह पूँजीवादी-वर्ग वर्ग-सम्पत्ति के ख़ात्मे का यह मतलब लगाता है कि उत्पादन ही ख़त्म हो जायगा, उसी तरह वह वर्ग-संस्कृति के ख़ात्मे का यह मतलब लगाता है कि सभी संस्कृति ख़त्म हो जायगी। वह संस्कृति, जिस के खात्मे पर वह आँसू बहाता है, जनसाधारण को मशीन बनाना ही सिखाती है।" इसलिये यह भ्रम दूर कर देना चाहिये कि सर्वहारा-वर्ग का साथ देने से संस्कृति ख़त्म हो जायगी। सर्वहारा-वर्ग उसी संस्कृति को खत्म करेगा जो इंसान को पूँजीवाद की गुलामी करना सिखाती है और जो इंसानियत को ख़त्म कर के उसे मशीन बना देती है।

पूँजीवादी बुद्धिजीवियों से कहा जाय कि आप लोग पूँजीवादी हैं तो वे आसानी से यह बात मानने के लिए तैयार न होंगे। कुछ दूसरे भोले लोग भी कह उठेंगे, बुद्धि के क्षेत्र में पूँजीवादी और सर्वहारा क्या? बुद्धिजीवी बुद्धिजीवी सब बराबर हैं लेकिन समाज में जब तक पूँजीवाद क़ायम है, तब तक पूँजीवादी बुद्धिजीवियों का होना भी लाज़मी है। जीविका के साधनों पर पूँजीपतियों का क़ब्ज़ा होता है; इसलिये ऐसे लोग ज़रूर निकल आते हैं जो पेट के लिये पूँजीपतियों की गुलामी करते हैं।

१९वीं सदी के आख़ीर में रूस में कुछ लोग ऐसे थे जो पूँजीवादी बुद्धिजीवियों के अस्तित्व से ही इन्कार करते थे। ये लोग अपने को 'जनता का दोस्त' कहते थे। इन की धारणा के बारे में लेनिन ने लिखा था: "क्या इस बात से इन्कार किया जा सकता है कि साल-दर-साल रूसी विश्वविद्यालय और दूसरे शिक्षा-केन्द्र इस ठप्पे के 'बुद्धिजीवी' (??) निकालते जाते हैं जिन्हें सिर्फ इस बात की फ़िक्र रहती है कि किसी की गुलामी कर के अपना पेट भरें? क्या इस बात से इन्कार किया जा सकता है कि इन 'बुद्धिजीवियों' को पालने के साधन इस समय मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हाथ में हैं?

पूँजीवादी बुद्धिजीवी ग़ायब हो जायँगे क्योंकि 'जनता के दोस्त कहते हैं कि ये बुद्धिजीवी किसी दूसरे की सेवा भी कर सकते थे ?' यह हो 'सकता था' कि वे पूँजीवादी बुद्धिजीवी न हों अगर रूस में पूँजीवाद न होता और पूँजीपति न होते !" ("ये 'जनता के दोस्त' क्या हैं ?")

लेनिन के ये सवाल हम अपने यहाँ भी कर सकते हैं। क्या हमारे देश में पूँजीवाद और पूँजीपति हैं ? पूँजीवादी अख़बारों के पन्ने रँगनेवाले, पूँजीवादी विचारधारा फैलानेवाले, प्रगतिशील विचार-धारा को पानी पी-पी कर कोसनेवाले लेखक और बुद्धिजीवी इस देश में हैं या नहीं ? ज़रूर हैं और उन्हें ढूँढ़ने में देर न लगेगी। यही लोग हैं जो साहित्य और कला को राजनीति से दूर रखने पर सब से ज्यादा ज़ोर देते हैं। उन की राजनीति इतनी गन्दी होती है कि उसे ज्यों का त्यों पेश करने में उन्हें झेंप मालूम होती है।

पूँजीवादी बुद्धिजीवियों के अलावा निम्न पूँजीवादी बुद्धिजीवी भी पूँजीवाद पर निर्भर होते हैं। लेनिन के शब्दों में : "निम्न पूँजीवाद दर असल पूँजीपतियों पर निर्भर होते हैं, क्योंकि वे (पेटी बुर्जुआ —सामाजिक उत्पादन में अपनी स्थिति के विचार से) मालिकों की तरह रहते हैं न कि सर्वहारा की तरह और उन के विचार भी पूँजीपतियों का अनुसरण करते हैं।" (लेनिन : दो खण्डोंवाली संक्षिप्त ग्रंथावली, खंड २, पृ० २६) ।

इस निम्न पूँजीवादी ज़हनियत के बुद्धिजीवी अपने को जनवादी कह कर लोगों को धोखा देते हैं। वे मानववाद के नाम पर ऐसे लोगों का समर्थन करते हैं जो दर असल मानवता के शत्रु हैं। वे प्रतिक्रियावाद की खुली हिमायत न करके शुद्ध कला और शुद्ध साहित्य की नक़ाब डाल कर चोरी और धोखे से वही काम करते हैं। लेनिन ने 'काउंट हेडन की स्मृति में' नाम के लेख में इन का सजीव चित्र खींचा है। इन नक़ाबधारी बुद्धिजीवियों का असर कितना ख़तरनाक है, इस के बारे में लेनिन कहते हैं :—

"जनता के ऊपर ज़मींदारों का असर खतरनाक नहीं है। वे ज्यादा दिन तक मज़दूरों की बड़ी तादाद को या किसानों को बहकाने में सफल न होंगे। लेकिन बुद्धिजीवी वर्ग दिखाऊ तौर से शोषण में हिस्सा नहीं लेता। उसे स्पष्ट शब्दों और धारणाओं से खेलने की शिक्षा मिली होती है। वह 'हर' सुन्दर विचार की तरफ़ दौड़ पड़ता है और कुछ बुद्धिजीवी, सच्ची मूर्खता के कारण, अपने मध्यवर्गीपन को उठा कर उसे गैर-वर्ग पार्टी और गैर-राजनीति का सिद्धान्त बना देते हैं। जनता के ऊपर इन पूँजीवादी बुद्धिजीवियों का असर ख़तरनाक है। यहाँ पर और सिर्फ़ यहीं पर ऐसी बीमारी फैल सकती है जो उसे दर असल नुक्सान पहुँचाये। इस जहर को ख़त्म करने के लिए समाजवाद की तमाम ताक़तों का ज़ोर लगाना आवश्यक है।" (संक्षिप्त ग्रन्थावली, लारेंस ऐण्ड विशार्ट, खंड ११, पृ० ६६४)।

इसीलिए इन शुद्ध साहित्यकारों की रचना को पार्टीजन साहित्य की कसौटी पर परख कर उनका वर्गरूप दिखाना बहुत ज़रूरी है। वर्ना उन का कथित साहित्य-प्रेम उन के वास्तविक पूँजी-प्रेम को छिपा कर जनता को भरमाता रहेगा।

पेटी बुर्जुआ की वर्ग-विशेषता और उस की ज़हनियत के बारे में लेनिन के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं:

"पेटी बुर्जुआ-वर्ग स्वभाव से ही दो-मुँहा होता है। एक तरफ तो वह सर्वहारा और जनतन्त्र की तरफ़ खिचता है, दूसरी तरफ़ वह प्रतिक्रियावादी वर्गों की तरफ़ खिंचता है, इतिहास की गति रोकने की कोशिश करता है, तानाशाही के प्रयोगों और मीठी नज़र में फँस भी सकता है (मसलन तीसरे अलेग्ज़ेंडर की 'जन-राजनीति' में), वह अपने छोटे सम्पत्तिवाले वर्ग की स्थिति मज़बूत करने के लिए सर्वहारा-वर्ग के खिलाफ शासक वर्ग से सहयोग कायम कर सकता है।" (दो खण्डोंवाली संक्षिप्त ग्रंथावली, अं० सं० खंड १, पृ० १३७)।

यह तो पेटी बुर्जुआ की वर्गस्थिति से पैदा होनेवाला स्वभाव हुआ, जो उस के ढुलमुलपन पर रोशनी डालता है। अब शिक्षित-वर्ग को लीजिए।

"शिक्षित समुदाय और आम तौर से 'बुद्धिजीवी-वर्ग' तानाशाही के बर्बर पुलिस अत्याचारों का विरोध किये बिना नहीं रह सकता। तानाशाही चिन्तन और ज्ञान पर जुल्म ढाती है। लेकिन इस बद्धिजीवी वर्ग के भौतिक हित उसे तानाशाही और पूँजीपतियों के साथ बाँध देते हैं, उसे मज़बूत करते हैं कि वह कभी कुछ, कभी कुछ हो, कि वह समझौते करे, एक सरकारी नौकरी के लिए या मुनाफ़े में हिस्सा पाने के लिए अपना विरोधात्मक और क्रान्तिकारी जोश बेच दे।" (उप० पृ० १३७)।

लेनिन की यह दो टूक बात हिन्दी के उन 'क्रान्तिकारी' लेखकों पर पूरी तरह लागू होती है जो एक सरकारी नौकरी के लिए या मुनाफ़े में हिस्सा पाने के लिए अपना विरोधात्मक और क्रान्तिकारी जोश बेच चुके हैं। जनता पर ढाये जानेवाले जुल्म के बारे में मुँह सिये हुए वे राष्ट्रीयता की समाधि पर ईमानफरोशी के दिये जला रहे हैं।

बुद्धिजीवी के लिए मध्यवर्गी ज़हनियत कितनी खतरनाक है, किस तरह उस के भीतर ढुलमुलपन, कायरता और क्रान्ति-विमुखता पैदा करती है, वह किस तरह उस के साहित्य और कला को खोखला बनाती है, इस पर लेनिन ने अपनी रचनाओं में बहुत जगह प्रकाश डाला है।

अपनी पुस्तक 'सर्वहारा-क्रान्ति और ग़द्दार कॉट्स्की' में लेनिन ने काट्स्की की ज़हनियत को कई जगह मध्यवर्गी कहा है या उस की दलीलों की तुलना मध्यवर्गी ज़हनियत से की है।

राजशक्ति सोवियतों के हाथ में आये, इस मसले पर कॉट्स्की कहता था कि सोवियतें मज़दूरों की लड़ाई के बहुत अच्छे संगठन हैं लेकिन राजशक्ति उनके हाथ में न आनी चाहिये। इस का

मतलब यह था कि मज़दूर अपने दुश्मनों से लड़ें, लेकिन उन पर जीत हासिल न करें। उस के सपने उस पेटी बुर्जुआ के-से थे 'जो विश्वास करता है कि सर्वहारा और पूँजीपतियों के बीच तीखी लड़ाई के बिना भी काम चल सकता है' (The Proletarian Revolution and the Renegade Kautsky, 1947; पृ० ५५)।

यह धारणा मध्यवर्गीपन की खास निशानी है कि सर्वहारा और पूँजीपतियों के तीखे वर्गसंघर्ष को बचाया जा सकता है। भले ही दोनों वर्गों में संघर्ष चल रहा हो। मध्यवर्ग समझता है कि यह संघर्ष क्रान्तिकारी रूप न लेगा और शान्तिपूर्ण ढंग से नये समाज की नींव डाली जा सकेगी। इस धारणा के बल पर वह क्रान्ति विमुखता के नज़दीक पहुँचता है।

रूस के मेनशेविक और समाजवादी क्रान्तिकारी नेता मज़दूरों में यही मध्यवर्गी ज़हनियत भरते थे कि पूँजीवादी वर्ग से ताकत छीनना ज़रूरी नहीं; उस से समझौता हो सकता है। मज़दूरों ने 'इस पेटी बर्जुआ नेतृत्व से विदा ली यानी उन का यह भरम दूर हो गया कि पूँजीपतियों से समझौता हो सकता है।' (उप० पृ० ५६)।

इससे ज़ाहिर है कि यह धारणा कि पूँजीवादी वर्ग से समझौता हो सकता है, मध्यवर्गीपन की निशानी है और वह भी बुद्धिजीवियों को मजदूरों के जीवन-मरण की लड़ाई से दूर रखती है।

वर्गसंघर्ष के बारे में ग़लत धारणा होने की वजह से एक खास तरह की कायरता पैदा होती है जिसे पेटी बुर्जुआ कायरता कहा जा सकता है। कॉट्स्की एक तरफ़ मानता है कि यूरोप की हालत समाजवाद लाने के लिए पक चुकी है, दूसरी तरफ वह यह भी कहता है कि मज़दूरों के लड़ाकू संगठनों को राज संगठनों का रूप न लेना चाहिए। यानी कॉट्स्की इस क्रान्तिकारी कदम से डरता है कि मजदूर अपने संगठनों को राजशक्ति का माध्यम बना दें। लेनिन इस ढुलमुलपन और कायरता को 'एक पेटी बुर्जुआ की मूर्खता और कायरता' (उप० पृ० ४६) कहते हैं। यह ढुलमुलपन और

कायरता पेटी बुर्जुआ को रोकते हैं कि वह क्रान्तिकारी मजदूरों के साथ अगला कदम उठाये।

कॉट्स्की का यह पेटी बुर्जुआपन उसे मध्यमार्ग की तरफ़ ले जाता है। वह समझता है कि पूँजीपतियों और मज़दूरों की दो राहों के बीच में एक तीसरी राह भी है, जिस पर चल कर दोनों में समझौता हो सकता है। लेनिन कहते हैं: "एक बीच की राह ढूँढ़ने की कोशिश, सर्वहारा और पूँजीवादी वर्गों में 'मेल' कराने की कोशिश सरासर मूर्खता है और वह ज़रूर बुरी तरह असफल होगी।" (उप० पृ० ४७)। कॉट्स्की ने यही कोशिश की थी और वह बुरी तरह असफल भी हुई। फिर भी उस समय वह और उस जैसे लोग अवसरवाद से बाज़ न आये। बीच की राह निकालने की बात दर असल मौकापरस्ती की निशानी है। लेकिन कॉट्स्की की तकदीर में लिखा है कि वह दो स्टूलों के बीच में बैठे। वह दिखाता यह है कि सिद्धान्तों में वह कहीं भी अवसरवादियों के साथ नहीं है, लेकिन दर असल हर महत्त्वपूर्ण बात पर (यानी क्रान्ति संबंधी हर बात पर) अमल में वह उन के साथ है। (उप० पृ० ४७)।

इस तरह मध्यमार्गी सज्जन अवसरवाद के रास्ते हो कर क्रान्ति-विमुखता के लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। उन की 'मेल' कराने की कोशिशें उन्हें ले डूबती हैं और उन की 'सरासर मूर्खता' का वही अन्त होता है जो होना चाहिये। पहले महायुद्ध में कॉट्स्की ने मध्यमार्गियों की अगुआई की थी। लेनिन ने उस के बारे में लिखा था: "अगस्त १९१४ से उस के मार्क्सवाद का दिवाला निकल गया है, उस ने बेजोड़ कायरता दिखायी है और लगातार नीच ढुलमुलपन और दगाबाज़ी की है।" (संक्षिप्त ग्रंथावली खण्ड २, पृ० ४०)।

सर्वहारा-उद्देश्य को अपनानेवाले लेखक का कर्तव्य है कि वह इस अवसरवाद का पर्दाफ़ाश करे, न कि उसके समर्थन में दलीलें दे।

जैसे-जैसे वर्ग-संघर्ष तीखा होता है और क्रान्ति से निपटारा करने का दिन नज़दीक आता है, वैसे-वैसे यह अवसरवाद भी

ख़तरनाक होता जाता है और उस की जड़ काटना मजदूर-आन्दोलन का पहला काम हो जाता है। ऐसे समय आम जनता लायड जार्ज जैसे खुले पूँजीवादी राष्ट्रपंथियों के पीछे नहीं चलती। ऐसे समय मुँह से समाजवाद की बातें करनेवाले, अमल में मज़दूरों को निर्णायक लड़ाई से रोकनेवाले कॉट्स्की जैसे लोग जंगजू अवाम को गुमराह करने आते हैं। ये लोग जिस तरह पूँजीवादी नेताओं का मुँदा-ढँका प्रचार करते हैं, वह पूँजीवादी नेताओं के प्रचार से ज्यादा ख़तरनाक होता है।

इसलिए क्रान्तिकारी उठान के दिनों में मज़दूर आन्दोलन के भीतर इस अवसरवादी पेटी बुर्जुआ धारा के खिलाफ अवाम की क्रान्तिकारी धारा का संघर्ष और भी बढ़ जाता है। (मार्क्स-ऐंगेल्स-मार्क्सिज़्म, पृ० ३२२)।

साम्राज्यवादी युद्धों में मध्यवर्गी ज़हनियत इस तरह ज़ाहिर होती है कि राष्ट्रीयता अन्तरराष्ट्रीयता से बढ़ कर है और मैं 'अपनी सरकार' का साथ दूँगा।' यह दलील पूँजी के खिलाफ मजदूरों के क्रान्तिकारी संघर्ष को दरकिनार कर देती है, वह विश्व पूँजीवाद और विश्व-सर्वहारा के नज़रिये से समूचे युद्ध का मूल्यांकन दरकिनार कर देती है और सिर्फ़ संकुचित और निकम्मा राष्ट्रवाद रह जाता है। (ग़द्दार कॉट्स्की, पृ० ५४)। लेनिन ने इस तरह की दलीलों को 'पेटी बुर्जुआ नैशनलिस्ट' की दलील कहा है। मध्यवर्गी ज़हनियत राष्ट्रीयता को मज़दूरों के संघर्ष के ऊपर रखती है और उसे पूँजीपतियों के सिंहासन से बाँध देती है। पूँजीवाद अपने पतित फासिस्ट रूप में इसी ज़हनियत से मदद पाता है। यह ज़हनियत सोशल डिमौक्रैटिक या पूँजीवादी लेबर पार्टियों की ख़ास निशानी है। इसीलिए एटली का समाजवाद हमेशा चर्चिल के कदमों पर चलता है। बुद्धिजीवियों में यह ज़हनियत कायम रहे तो वे क्रान्तिकारी वर्ग का साथ नहीं दे सकते।

अवसरवादी चालाक होता है, हालाँकि उस की चालाकी उसी की तबाही का कारण बन जाती है। वह समझता है कि वह

मज़दूर-पूँजीपति-संग्राम में दोनों का साथ दे कर अपने भविष्य की रक्षा कर लेगा। चालाक अवसरवादियों से एक अलग क़ौम के लोग भी होते हैं, जिन्हें अंग्रेजी में 'फिलिस्टिन' कहा जाता है। हम इन्हें टुटपुंजिया कह सकते हैं। वे यह नहीं सोच पाते कि वह अपने 'साम्राज्यवादी पूँजीपतियों के हाथ में कठपुतली भर हैं' (उप० पृ० ७५)। इसलिए लेनिन ने इन्हें 'ग़रीब, मूर्ख, राष्ट्रवादी फिलिस्टिन' कहा है (उप०)। फिलिस्टिन की मूर्खता कोई कवच नहीं है जो उसे वर्गसंघर्ष की लपटों से बचा ले। क्रान्ति का तूफान आता देख कर वह भले ही शुतुर्मुर्ग की तरह रेत में सिर गड़ा ले, लेकिन इस से वह तूफान को रोक नहीं सकता, न उस की लपेट से बच सकता है।

गोर्की ने इस शुतुर्मुर्ग-पथ पर १६२६ में एक लेख 'Philistinism' लिखा था, जिस में उन्हों ने 'फिलिस्टिन' की बड़ी सुन्दर व्याख्या की थी। उन्हों ने लिखा था: "फिलिस्टिन वह व्यक्ति है जिस की ज़िन्दगी ऐसे विचारों और आदतों के तंग दायरे में चक्कर खाया करती है, जिन्हें उस ने किसी ज़माने में अपनाया था। इस दायरे के भीतर वह मशीन की तरह सोचता है; उस के परिवार का असर, स्कूल, गिर्जाघर, मानववादी साहित्य का असर, उन तमाम चीज़ों का असर जो 'कानून की रूह' और पूँजीपतियों की परंपरा हैं, फिलिस्टिन के दिमाग़ में एक सीधी-सादी मशीनरी पैदा कर देता है जो घड़ी जैसी होती है। उस का मेनस्प्रिग फिलिस्टिन विचारों के पहिये में हरकत पैदा कर देता है। यह हरकत उसे लगातार आराम की हालत ढूंढ़ने पर मजबूर करती है। फिलिस्टिन की प्रार्थना—बिना उसकी भाषण-कला में बट्टा लगाये—थोड़े से शब्दों में लिखी जा सकती है; 'ए खुदा, रहम कर'!

समाज और राज्य से उस की यही प्रार्थना कुछ विस्तार से यों होती है: "मुझे न छेड़ो; जैसा हूँ वैसा रहने दो!"

'मुझे न छेड़ो' की आदत साहित्य के उन तमाम 'बड़े बाबुओं' में पायी जाती है जिन का दिमाग अब घड़ी की तरह हरकत करने

लगा है और जो हर ऐसी चीज से घबड़ा उठते हैं जो घड़ी की 'टिक-टिक' में जरा भी रुकावट डालती दिखाई देती है। वे नरोत्तम नागर के शुतुर्मुर्ग पुराण के नायकों जैसे हैं, जो समाज के तमाम बवंडरों और तूफानों का एक ही इलाज जानते हैं कि रेत में सिर गड़ा कर पड़ रहें।

बुद्धिजीवियों में अगर इस तरह का निकम्मापन आता है और वे इस तरह की आरामपसन्द बाबूगिरी के रास्ते से चलते हैं, तो जाहिर है कि वे न घर के रहेंगे और न घाट के। मध्यवर्गीपन का सब से जड़ रूप यह टुटपुँजियापन है जिस से बुद्धिजीवियों को बचना चाहिये।

ज़ारशाही रूस में १९०५ की असफल क्रान्ति के बाद अनेक 'क्रान्तिकारी' बुद्धिजीवियों का क्रान्ति-प्रेम हवा हो गया। जैसे-जैसे पूँजीवाद की आखिरी घड़ी नज़दीक आती गयी वैसे-वैसे मध्यवर्गी बुद्धिजीवियों की सिद्धान्तहीनता चरम मीमा को पहुँचती गयी। १९०७ से १९१७ तक के समय को गोर्की ने 'रूसी बुद्धिजीवियों के इतिहास के सब से शर्मनाक और बेशर्म दस साल' कहा था (पहली सोवियत लेखक-कांग्रेस में भाषण)। उन का अवसरवाद, उन का टुट-पुँजियापन, उन की क्रान्तिविमुखता—सब कुछ सामने आ गया लेकिन रूसी साहित्य अपने महान् जनवादी लेखकों की परंपरा को ले कर आगे वढ़ा और क्रान्ति के पहले के दस साल जैसे शर्मनाक थे, क्रान्ति के वाद के दस साल वैसे ही गौरवपूर्ण भी थे।

रूसी क्रान्ति के अवसर पर बुद्धिजीवियों ने क्या किया, इस के बारे में स्तालिन कहते हैं :

"अक्तूबर-क्रान्ति के पहले दिनों में ही पुराने बुद्धिजीवियों का वह हिस्सा जो सब से प्रभावशाली और योग्यताप्राप्त था, मुख्य बुद्धजीवी-समुदाय से अलग हो गया। उस ने सोवियत सरकार पर युद्ध-घोषणा कर दी और तोड़-फोड़ करनेवालों से जा मिला। इस के लिए उसे उचित दंड मिला। सोवियत-शक्ति की संस्थाओं

ने उसे तितर-बितर कर दिया और खत्म कर दिया। आगे चल कर जो बच रहे थे, उन में से अधिकांश को हमारे देश के दुश्मनों ने जासूस और तोड़-फोड़ करनेवाला बना लिया। इस तरह वे खुद अपनी करनी से बुद्धिजीवियों की पाँति से निकाल फेंके गये। बुद्धि-जीवियों का एक और हिस्सा जो कम योग्यता-प्राप्त था, लेकिन तादाद में ज्यादा था, बहुत दिनों तक 'मार्क टाइम' करता रहा और दिन फिरने की बाट जोहता रहा। लेकिन अन्त में लगता है, उम्मीद छोड़ कर उसने तय किया कि सोवियत से मिल कर रहे और उस के लिए काम करे। पुराने बुद्धिजीवियों के इस हिस्से के लोग बूढ़े हो चले हैं और उन का काम करना बन्द हो रहा है। पुराने बुद्धिजीवियों में एक तीसरा हिस्सा और था जिस में मुख्य रूप से साधारण मसिजीवी थे और जो ऊपर के हिस्से से भी कम योग्यता-प्राप्त थे; यह हिस्सा जनता के साथ आया और उस ने सोवियत सरकार का समर्थन किया। उसे अपनी शिक्षा पूरी करनी थी और उस ने हमारे विश्वविद्यालयों में यह करना शुरू कर दिया।"

पुराने बुद्धिजीवियों का व्यवहार इस प्रकार था : जो चोटी के लोग थे; वे तुरन्त सोवियत विरोधी दल में जा मिले, जो बीच के थे और अपने को उतना काबिल न समझते थे, वे काफी दिन तक एक ही जगह खड़े हुए लेफ्ट-राइट करते रहे। लेकिन पूँजीपतियों का राज फिर कायम न हो सका, इसलिए उन के दिन भी न फिरे। अंत में जब बूढ़े हो चले तो सोचा कि अब सोवियत सरकार का साथ देना चाहिये। तीसरा हिस्सा 'रैंक एंड फाइल' का था, साधा-रण मसिजीवियों का जिन की हमदर्दी गरीब जनता के साथ थी। चोटी की योग्यता न रखते हुए भी इन्हों ने विद्यालयों में अपनी शिक्षा पूरी की और वे सोवियत बुद्धिजीवियों के अंग बन गये।

बुद्धिजीवियों का यह इतिहास खूब शिक्षाप्रद है। चोटी के बुद्धिजीवी अपने रहन-सहन और विचारों से पूँजीवादी वर्ग के सब से ज्यादा नजदीक रहते हैं। इन में से अधिकांश तुरन्त ही क्रान्ति-

विरोधी हो जाते हैं । बीच के बुद्धिजीवी ज्यादातर मध्यवर्ग के होते हैं जो अपने वर्ग की खूबी दिखाते हुए 'मार्क टाइम' करते हैं और जब देखते हैं कि जनता की ताकत मज़बूत हो गयी है तब वे भी उसके साथ कंधा लगा देते हैं। लेकिन बुद्धिजीवियों का एक काफी बड़ा हिस्सा ऐसा भी होता है जो 'रैंक ऐण्ड फाइल' है, जिसकी हैसियत निचले मध्यवर्ग के लोगों की है, जिस का जन्म गाँवों में किसानों के घर या शहर में मज़दूरी या मामूली कारीगरों, कम तनखाह पानेवाले नौकरीपेशा लोगों के यहाँ हुआ है । यह हिस्सा मज़दूर वर्ग का साथ देता है। वह अपनी योग्यता की कमी दूर कर लेता है और नये बुद्धिजीवी वर्ग के निर्माण में सहायक होता है। इसलिए स्तालिन के शब्दों से यह नतीजा निकालना बिल्कुल ग़लत होगा कि बुद्धिजीवी वर्ग स्वभाव से ही अवसरवादी और क्रान्तिविरोधी होता है, इसलिए उस के खिलाफ़ लड़ाई छेड़ देनी चाहिये और कोई मज़दूर वर्ग के नज़दीक भी आये तो उसके साथ दुश्मन के भेदिये जैसा व्यवहार करना चाहिये ।

बुद्धिजीवियों के तीन हिस्से जब तीन तरह का व्यवहार कर रहे थे, तभी पीड़ित वर्गों के सैकड़ों नौजवान जो अब भी पीड़ित नहीं थे, विश्वविद्यालयों में भर्ती हो रहे थे । इन्हों ने बुद्धिजीवी वर्ग का सामाजिक आधार ही बदल दिया। पुराने बुद्धिजीवी वर्ग की पाँति टूटने के साथ बुद्धिजीवियों के निर्माण की यह क्रिया भी चल रही थी। इसके बारे में स्तालिन ने कहा था--

"पुराने बुद्धिजीवी वर्ग के टूटने और उसके हिस्से होने के दुखद क्रम के साथ नये बुद्धिजीवियों के निर्माण, संगठन और बटोर का काम भी तेजी से होता गया। मज़दूरों, किसानों और कलमजीवियों (working intelligentsia) की पाँति से निकल कर लाखों नौजवान युनिवर्सिटी और टेकनिकल कालेजों में भर्ती हुए, जिन से निकल कर उन्होंने बुद्धिजीवी वर्ग की घटती हुई पाँति को नयी मदद पहुँचायी। उन्हों ने उस में नया रक्त प्रवाहित किया और उस में एक

नयी, सोवियत चेतना का संचार किया। उन्हों ने बुद्धिजीवी वर्ग की कायापलट कर दी और उसे अपने रंग-रूप, अपने ढाँचे के अनुसार गढ़ डाला। पुराने बुद्धिजीवी वर्ग में, जनता का बुद्धिजीवी वर्ग घुल-मिल गया। इस तरह एक नया, सोवियत बुद्धिजीवी वर्ग उठ खड़ा हुआ जिस का जनता से घनिष्ठ संबंध था और जो अधिक-तर ईमानदारी और वफ़ादारी के साथ उस की सेवा करने के लिए तैयार था।

इसके फलस्वरूप अब हमारे यहाँ एक बहुसंख्यक, नया, लोकप्रिय, सोशलिस्ट बुद्धिजीवी वर्ग है जिस का निर्माण तथा सामाजिक और राजनीतिक रूप बुनियादी तौर से पुराने पूँजीवादी बुद्धिजीवी वर्ग से भिन्न है।"

इस क्रम से नये सोवियत बुद्धिजीवी वर्ग का निर्माण हुआ। वे चोटी के चाटुकार जो पूँजीवाद की सेवा करने में कला, साहित्य और विज्ञान की चरम सिद्धि मानते थे; इतिहास के कबाड़खाने में फेंक दिये गये। मज़दूर और किसानों के बेटों ने राज्य की बागडोर ही नहीं संभाली, उन्होंने साहित्य, कला और विज्ञान में भी आगे बढ़ निकलने का बीड़ा उठाया। पुराने ईमानदार बुद्धिजीवियों के साथ मिल कर उन्हों ने एक नया बुद्धिजीवी वर्ग बनाया और ऐसा बनाया जो बुनियादी तौर पर नया था, जिस में सोवियत समाज का नया रक्त प्रवाहित था, जिस की चेतना पूँजी की गुलामी से आज़ाद एक नये समाज की चेतना थी।

पूँजीवादी व्यवस्था से छुटकारा पाने पर ईमानदार बुद्धिजीवी के सामने विकास के लिए एक बहुत बड़ा रास्ता खुल जाता है। वह बेकारी और तंगी की चिन्ता से मुक्त हो कर तमाम कामकाजी जनता की सांस्कृतिक उन्नति के लिए काम कर सकता है। स्तालिन के शब्दों में वह मानव-हृदय का इंजीनियर बन जाता है। उस के शब्द, उस की कला, उस का संगीत जितना ज्यादा और जितना अच्छा प्रभाव समाजवादी व्यवस्था में डाल सकता है, उतना पूंजीवादी

समाज में मुमकिन ही नहीं है। यहाँ पर रायल्टी और कापीराइट की बेईमानियों के ज़रिये लेखक की मेहनत से कोई और ही मोटा होता है। आज़ाद समाज में, बिना इस बेईमानी के डर के, लेखक अपनी मेहनत का फल पा सकता है और सब से बड़ी बात यह कि वह अपनी कला के उस क्रान्तिकारी रूप को विकसित कर सकता है जिस पर पूँजीवाद ने रोक लगा रखी थी। समाजवादी व्यवस्था में सोवियत साहित्य और संस्कृति ने जो बेजोड़ तरक्की की है, वह इस बात की जीती-जागती मिसाल है कि समाजवाद साहित्य और कला को विकसित करनेवाली सबसे बड़ी शक्ति है।

—१६४८।

—:o:—

५

* *

कविता में शब्दों का चुनाव

सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक फ्लाबर्ट के अनुसार तुम एक ही संज्ञा द्वारा अपने विचार को व्यक्त कर सकते हो, एक ही क्रिया उस विचार को प्रगतिशील बना सकती है और केवल एक विशेषण उसकी विशेष व्याख्या कर सकता है। फ्लाबर्ट के इस सिद्धांत को क्रियात्मक व्यवहार द्वारा चरितार्थ करनेवाले उसके अतिरिक्त अनेक देशी और विदेशी लेखक हुए। उन्होंने अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त शब्दों को रखने की चेष्टा की। अनेक स्थलों पर यह खोज साधारण बुद्धिमत्ता का अतिक्रमण कर हास्यास्पद भी हुई। परंतु सच पूछा जाय, तो सब काल, सब देशों में कवि यही करते चले आये हैं। फ्लाबर्ट गद्य-लेखक था, पर वह गद्य को भी उतने ही कलात्मक ढंग से लिखना चाहता था, जैसे एक कवि अपनी कविता को। कवि की शिक्षा-दीक्षा के अनुसार उसका शब्द-भांडार संकुचित अथवा विस्तृत होता है। उसी

करता है। बहुधा उस की भावाभिव्यक्ति के लिए उस के सामने अनेक शब्द आते हैं, परन्तु उन से उसे संतोष नहीं होता। अपनी प्रतिभा के अनुसार वह ऐसे शब्दों को खोज निकालता है, जो उस के भावों को उस की अनुभूति के अनुकूल पाठक के हृदय में उतारते हैं। शब्द-संकेतों के बिना दूसरा कवि के भावों को नहीं समझ सकता। अतः कवि की कला का एक प्रधान अंग शब्दों का चुनाव है। वह सुन्दर भावुक अथवा विचारक होकर भी तब तक सफल कवि नहीं हो सकता, जब तक अपने भावों और विचारों को भाषा में मूर्त करने के लिए उचित से उचित शब्दों को न चुन सके। बड़े कवि वे होते हैं, जिनके भावों और विचारों के साथ उन की भाषा में शिथिलता नहीं आने पाती। उन का शब्दों पर ऐसा अधिकार होता है कि वे उनकी रुचि पर निर्भर उन की आज्ञा का पालन करते हैं। उन में ऐसा जीवन रहता है कि वे कवि के अर्थ को पुकारते चलते हैं। हमें यह भासित हो जाता है कि उस ने उचित संकेत पर उँगली रक्खी है; उस से इतर उस के स्थान पर कदापि उपयुक्त न होता। निम्न श्रेणी के कवियों में ऐसा सामंजस्य कम मिलता है। यदि उन का शब्दों पर अधिकार है, तो भावों और विचारों की कमी है; यदि भाव और विचार हैं तो सुचारु शब्द-चयन नहीं है। जहाँ उन का सम-सामंजस्य हो जाता है, वहाँ सुन्दर कविता की सृष्टि होती है।

शब्द चुनते समय कवि का ध्यान सब से पहले उन के अर्थ की ओर जाता है। एक ही अर्थ के द्योतक बहुधा अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं; परन्तु वह उन में से किसी एक को ले कर अपना काम नहीं चला सकता। समान अर्थ होने पर भी उन के प्रयोग में यत्किंचित् विभिन्नता होती है। जैसे मुक्त, स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, अबंध आदि शब्द एक अर्थ बताते हुए भी अपनी-अपनी कुछ लघु अर्थ-विशेषता रखते हैं। निम्न पंक्तियों में 'मुक्त' शब्द का प्रयोग किया गया है: वहाँ स्वच्छंद रखने से अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

"पर, क्या है,
सब माया है--माया है,
मुक्त हो सदा ही तुम,"--(निराला)

शब्दों का अर्थ जन-प्रयोग पर निर्भर रहता है। शब्द संकेत-मात्र हैं और अर्थ-विशेष के द्योतक इसलिए होते हैं कि सब लोग वसा मानते हैं। मेरी एक भांजी है, वह बचपन में शक्कर को कड़ुआ और मिर्च को मीठा कहती थी। उस को किसी ने ऐसा ही सिखा दिया था। बाद को उसे यह सीखने में कुछ अड़चन मालूम हुई कि शक्कर कड़ुई नहीं, मीठी होती है। जन-प्रयोग से शब्दों के बहुधा कुछ से कुछ अर्थ हो जाते हैं, जैसे पुंगव से पोंगा। विद्वानों को अपना व्याकरण-ज्ञान एक ओर रख ऐसे स्थलों में शब्द का प्रयुक्त साधारण अर्थ ही ग्रहण करना पड़ता है। किसी सुकवि या सुलेखक को सम्मानार्थ आजकल पोंगा नहीं कहा जा सकता। ऐसा भी देखा गया है कि प्रतिभाशाली कवि शब्दों के बिगड़े प्रचलित अर्थ को छोड़कर उन के ठेठ व्याकरणसिद्ध अर्थ को ही अपनी कृतियों में मान्य रखते हैं। अँगरेजी में एक प्रसिद्ध उदाहरण मिल्टन का है। लैटिन-शब्दों का प्रयोग उसने उनके धात्वर्थानुसार किया है। इसलिए केवल अँगरेज़ी का ज्ञान रखनेवालों को बिना टिप्पणीकार की सहायता के उस की कविता का अर्थ ठीक-ठीक समझ में नहीं आ सकता। हिन्दी में अकसर ऐसे श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जिन का एक अर्थ प्रचलित होता है, दूसरा धातु-प्रत्यय के अनुसार। निरालाजी ने 'भारत', 'नभ' आदि शब्दों का इस भाँति प्रयोग किया है। कहीं-कहीं पर केवल धात्वर्थ ग्रहण किया है, जैसे—

'वसन विमल तनु वल्कल,
पृथु उर सुर पल्लव-दल,"—में सुर शब्द का।

ऐसे स्थलों में पाठक के लिए यह खतरा रहता है कि वह धात्वर्थ करते समय कवि के अभीप्सित अर्थ को छोड़ कोई और दूसरा ही अर्थ न निकाल ले और अपनी प्रतिभा को कवि की

प्रतिभा समझने लगे अथवा जहाँ कवि चाहता था कि शब्द का प्रचलित अर्थ ही लिया जाय, वहाँ वह एक दूसरा अर्थ खोज निकाले ।

शब्द के अर्थ के पश्चात् कवि उस की ध्वनि, उस में व्याप्त संगीत का विचार करता है । अनेक शब्दों की उच्चारण-ध्वनि और उन के अर्थ में साम्य दिखाई देता है । जैसे 'कोमल !' शब्द की उच्चारण-मधुरता उस के अर्थ से सहानुभूति रखती है । 'हलचल', 'उथल-पुथल', 'बकबक', 'टें-टें' आदि का शब्द ही उन का अर्थ बताता है । अपनी कला का ज्ञाता कवि शब्दों का इस प्रकार प्रयोग करता है कि उच्चारण—शब्द और उनके अर्थ को बढ़ा देता है । वह स्वर और व्यंजनों की शक्ति को पहचानता है; अपना भाव स्पष्ट करने के लिए ध्वनि का उतना ही आश्रय लेता है, जितना अर्थ का । पंतजी ने "पल्लव" के प्रवेश में लिखा है, किस भाँति

"इन्द्रधनु-सा आशा का छोर
अनिल में अटका कभी अछोर"—

में 'आ' का प्रस्तार आशा के छोर को फैलाकर इंद्रधनुष की तरह अनिल में अछोर अटका देता है । गोस्वामी तुलसीदास में स्वर-विस्तार द्वारा भावव्यंजना के अनेक सुन्दर उदाहरण हैं, जैसे—

"केहि हेतु रानि रिसानि
परसत पानि पतिहिं निवारई"—

में 'आ' का विस्तार राजा के हाथ बढ़ाने को और रानी के उस के दूर हटाने को भली भाँति व्यक्त करता है । इसी भाँति व्यंजनों को एकत्र कर कवि अपने अर्थ की पुष्टि करता है । कुशल कला-कारों में स्वर-व्यंजनों का चयन कम से कम स्पष्ट रहता है । वे शब्दों का हमारे ऊपर यथेच्छ प्रभाव डालते हुए भी हमें यह नहीं जानने देते कि वैसा चुनाव उन्होंने जान-बूझकर किया है । शब्दों की ध्वनि का ऐसा अदृश्य, अस्पृश्य प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है कि उस का विश्लेषण करना प्राय: असंभव रहता है । शब्द-संगीत और शब्दार्थ में पारस्परिक मैत्री वांछनीय जान पड़ती है । अर्थ छोड़

अथवा उसे गौण मान जब कवि केवल शब्द-संगीत द्वारा अपनी बात कहना चाहता है तो उसका कार्य अत्यंत कठिन हो जाता है। कविता में वह संगीत की भावोत्पादकता लाना चाहता है। अनेक कलाकार इसमें सफल भी हुए हैं। शब्दों के अर्थ की अपेक्षा उन का संगीत कवि के भावों को व्यक्त करने में अधिक समर्थ हुआ है। परंतु अधिकांश सानुप्रास शब्दों का बहुत प्रयोग कर शब्द-मोह के कारण कविता की वास्तविकता से दूर भी जा पड़े हैं।

शब्दों की उच्चारण-ध्वनि में कवि उनके अर्थ का रूप, रंग, आकार आदि भी देख सकता है। अर्थ से भिन्न भी उन का रूप रंग और आकार हो सकता है। 'पल्लव' के प्रवेश में पंतजी ने शब्दों की ध्वनि के अनुसार उन के रूप, रंग और आकार को पहचानने की चेष्टा की है। ऐसा करना बहुत कुछ कवि की सूक्ष्म मनोवृत्तियों पर निर्भर है, यद्यपि उस के भी वैज्ञानिक कारण हो सकते हैं। प्रभंजन, पवन, समीर आदि का उन्होंने अलग-अलग रूप निश्चित किया है। 'हिलोर' से भिन्न 'बीचि' उन के अनुसार जैसे किरणों में चमकती हुई हो। फ्रांसीसी कवि बोड्लेयर के अनुसार उपयुक्त शब्दों का चयन कर भिन्न रंगोंवाले चित्र खींचे जा सकते हैं; मूर्त अर्थ द्वारा कह कर नहीं, वरन् ध्वनि से इंगित हो कर। उस का कहना था कि शब्दों की ध्वनि में रेखाएँ भी होती हैं। उन के द्वारा रेखागणित के आकार बनाये जा सकते हैं। कहा नहीं जा सकता, यह कहाँ तक सत्य है। उस के शब्दों का प्रयोग हमें वैसा विश्वास करने के लिए बहुत कुछ प्रमाण देता है। जिन मानसिक स्थितियों (Moods) के वह चित्र खींचता है, उस के शब्द जैसे उन में रंग भर देते हैं। पाश्चात्य कलाकारों—विशेषकर १९वीं शताब्दी के रोमांटिकों—ने ललित कलाओं की सीमाओं को भंग करने की चेष्टा की है। कार्नडिन्स्की (Karndinsky) नामक कलाकार ने संगीत को चित्रित करने का प्रयत्न किया था; उस के अनुसार हल्के नीले रंग में फ्लूट की ध्वनि निकलती है, अत्यंत

गहरे नीले में आर्गन की तथा और भी इसी भाँति। निरालाजी को मैंने यह अनेक बार कहते सुना है कि उन्हें किन्हीं विशेष कवियों की कविता विशेष रंगों में रँगी जान पड़ती है। भवभूति की जैसे काले रंग में, कालिदास की नीले रंग में। जो कुछ भी हो, शब्दों में चित्र और संगीत कला के भी तत्त्व निहित हैं और सूक्ष्म मनो-वृत्तियोंवाला कवि उनका प्रयोग करता है।

साधारणतः कुछ शब्द दूसरों से अधिक कवित्वपूर्ण माने जाते हैं। ऐसा उनकी सुन्दर ध्वनि, अर्थ आदि के कारण होता है। कवि के लिए उन शब्दों का प्रयोग अधिक सरल होता है, जिन का एक बार कवित्वपूर्ण ढंग से प्रयोग हो चुका है। चंद्रमा, वसंत, शीतल मंद पवन आदि न-जाने कब से शृंगार के उद्दीपन विभाव होते चले आ रहे हैं। इसलिए कवि जाड़े में भी शृंगार-वर्णन के लिए वसंत की कल्पना करता है, अँधेरी रात में भी पूर्ण चंद्र की। इन का शृंगार-भावनाओं के साथ ऐसा नाता जुड़ गया है कि उन का नाम लेने से वे भावनाएँ सहज ही जगाई जा सकती हैं। इस प्रकार के प्रतीकों के प्रयोग से कवि के लिए लाभ-हानि, दोनों संभव हैं। नया प्रतीक खोज निकालने की अपेक्षा पुराने का प्रयोग अवश्य ही सरल है। साथ ही लोग उस के एक बार आदी हो गये हैं, वे उसे आसानी से समझ सकते हैं। परन्तु जब उस का बहुत बार प्रयोग हो चुकता है तो उसका जीवन नष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए कमल इतनी बार सुन्दर मुख, लोचन, चरण आदि का प्रतीक हो चुका है कि अब उसमें कोई चमत्कार नहीं। कमल कितना सुन्दर होता है, उसकी गंध कितनी मधुर, कमल कहने से अब साधारणतः इस का सुननेवाले को अनुमान नहीं होता। एक प्रकार तो कविता में सभी शब्दों का प्रयोग हो सकता है, कलाकार के लिए कुछ भी असुन्दर नहीं; पर ऐसा वह अपने संदर्भ के अनुसार कर सकता है। अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनका हँसी, व्यंग्य आदि की हल्की कविता में प्रयोग समीचीन होता है, उच्च भावों,

विचारोंवाली कविता में नहीं। उनका ऐसी वस्तुओं से सम्बन्ध रहता है, जिनका स्मरणमात्र ऊँची कविता के प्रभाव में घातक हो सकता है। जैसे श्री सियारामशरण जी गुप्त की इन पंक्तियों में ऐसे प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, जो कविता के प्रभावोत्पादन में बाधक होते हैं—

"चक्रपाणिता तज, धोने को
पाप - पंक के परनाले,
आहा ! आ पहुँचा मोहन तू
विप्लव की झाड़ूवाले।"—
(शुभागमन)

यहाँ झाड़ू और परनाले के प्रतीक अपने निम्न नाते-रिश्तों (Associations) के कारण 'मोहन' का संसर्ग पा कर भी नहीं चमक उठते। परन्तु प्रतिभाशाली कवि सदा से कविता के योग्य न समझे जानेवाले शब्दों का साहस के साथ प्रयोग करते चले आये हैं। ऐसा न करने से कविता का जीवन नष्ट हो जाय और थोड़े से शब्दों को कवित्वपूर्ण जान कवि उन्हीं का लौट-फेर प्रयोग किया करें। कवि का स्पर्श पा क्षुद्र से क्षुद्र शब्द भी जाग कर चमत्कार कर सकते हैं।

कवि अपना शब्द-भांडार बढ़ाने के लिए अनेक उपाय करता है। साधारण बोलचाल के शब्द उसके जाने ही होते हैं; पुस्तकें पढ़ वह और भी अपने काम के शब्द चुनता रहता है। उस के शब्दों को हम कुछ श्रेणियों में मुख्यतः विभाजित कर सकते हैं।

(१) ऐसे शब्द, जिन्हें वह किसी मृत पुरानी भाषा से लेता है, जिस का उस की भाषा से घनिष्ठ संबंध है। अँगरेज लेखकों ने इस प्रकार लैटिन से तमाम तत्सम शब्द लिये हैं। हिंदी-कवियों ने संस्कृत से शब्द ले अपने भांडार को भरा है। ऐसे शब्दों की साधारण भाव-व्यंजना के लिए दरकार नहीं होती, दार्शनिक किंवा उच्च विचारों की अभिव्यक्ति के लिए कवि को दूसरी भाषा के

भरे-पूरे कोष की सहायता लेनी पड़ती है। तत्सम शब्दों का प्रयोग करते समय कवि को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह अपनी भाषा में उन्हें इस प्रकार लावे कि उन की जातीयता नष्ट न होने पावे। मिल्टन ने लैटिन शब्दों का बहुतायत से प्रयोग किया है। उस पर यह अभियोग लगाया जाता है कि उस ने अँगरेज़ी के जातीय जीवन का ध्यान नहीं रक्खा है। "सुधा" में प्रकाशित निराला जी के "तुलसीदास" की भाषा भी कहीं-कहीं इसी दोष से दूषित हो गई है। संस्कृत-शब्द-बाहुल्य से हिंदी की स्वतंत्रता दब गई है। प्रसाद जी के नाटकों में संस्कृत-शब्दावली नहीं अखरती। उन में लिखित घटनाएँ इस काल की नहीं, चंद्रगुप्त और अजातशत्रु को आज की चलती भाषा में बात करते सुन हमें उनकी सत्ता पर संदेह हो सकता है। कलाकार ने विषय के साथ भाषा में तदनुरूप विचित्रता ला दी है।

(२) दूसरी भाषा के पास न जा कवि अपनी भाषा के भी पुराने भूले हुए शब्दों को पुनरुज्जीवित करता है। ऐसे शब्दों का प्रयोग उन्हीं के समान किसी पुराने विषय पर लिखते समय कवि की कला को चमका देता है। अप्रचलित शब्दों के कारण पाठक अपने युग से दूर बीती बातों के वायुमंडल में पहुँच जाता है। यदि सभी शब्द अप्रचलित हों, तो वह उन्हें समझ न सकेगा। कुछ के होने से कवि की कृति में पुरानेपन का उसे आभासमात्र मिलता रहता है। १९वीं शताब्दी के जिन अँगरेज़ लेखकों ने पुराने गीतों (Ballads) के अनुसार कविताएँ लिखीं, उन में से अधिकांश ने पुराने (Archaic) शब्दों का बड़े कलापूर्ण ढंग से प्रयोग किया है।

(३) कवि ग्राम्य शब्दों को भी अपनी भाषा में स्थान देते हैं। वर्ड्स्वर्थ का कहना था कि गाँवों से सम्बन्ध रखनेवाली बातें गाँववालों की भाषा ही में लिखी जानी चाहिएँ, यद्यपि उस ने स्वयं ऐसा बहुत कम किया। पर इसमें संदेह नहीं कि कुछ ग्राम्य प्रयोग

ऐसे होते हैं, जिन के समानार्थवाची शुद्ध भाषा में नहीं मिलते। व्रजभाषा में व्रज के अनेक ग्राम्य शब्द मिले हैं। तुलसीदास जी ने अवधी के ग्राम्य शब्दों का प्रयोग किया है। श्री मैथिलीशरणजी गुप्त की कृतियों में बुन्देलखंडी के शब्द मिल जाते हैं। यदि गाँवों के सम्बन्ध में कोई बात हो, तो वहाँ तो उनका उचित स्थान है ही, कैसी भी परिमित मात्रा में प्रयुक्त होने से अपनी भाव-व्यंजना की विशेषता आदि गुणों के कारण वे मार्जित भाषा में अपने लिए जगह कर सकते हैं।

कवि की भाषा चाहे सरल हो चाहे कठिन, शब्दों के चुनाव में उसे समान कठिनता हो सकती है। सरल भाषा सरलतापूर्वक सदा नहीं लिखी जाती। बहुधा बड़ी-बड़ी बातें ऐसे सरल शब्दों में लिखी जाती हैं कि लोग भाषा से धोखा खा कर उस सरलता के भीतर पैठने की चेष्टा नहीं करते। भावों की गहनता, सूक्ष्मता या उच्चता के साथ भाषा सरल रहे, साथ ही शिथिल भी न हो यह अत्यन्त दुष्कर है। इस की सफलता का उदाहरण रामचरित-मानस है। गर्जन-तर्जन करनेवाले बड़े शब्दों में उन के समान भाव भरना आसान नहीं। यदि कवि का विषय गहरा या ऊँचा नहीं, तो कठिन अप्रचलित शब्दों का प्रयोग, केवल उन की उच्चारण-ध्वनि के लिए क्षम्य नहीं माना जा सकता; कवि का कर्त्तव्य यह है कि कठिनता और सरलता का विचार न कर वह अपनी अनुभूतियों को उचित से उचित शब्द-संकेतों द्वारा हमारे सामने रक्खे।

—अगस्त, १६३६।

६

* *

यथास्मै रोचते विश्वम्

प्रजापति से कवि की तुलना करते हुए किसी ने बहुत ठीक लिखा था—"यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।" कवि को जैसे रुचता है वैसे ही संसार को बदल देता है।

यदि साहित्य समाज का दर्पण होता तो संसार को बदलने की बात न उठती। कवि का काम यथार्थ जीवन को प्रतिविम्बित करना ही होता तो वह प्रजापति का दर्जा न पाता। वास्तव में प्रजापति ने जो समाज बनाया है, उससे असंतुष्ट हो कर नया समाज बनाना कवि का जन्मसिद्ध अधिकार है। यूनानी विद्वानों के बारे में कहा जाता है कि वे कला को जीवन की नकल समझते थे और अफलातून ने असार संसार को असल की नकल बता कर कला को नकल की नकल कहा था। लेकिन अरस्तू ने ट्रेजेडी के लिए जब कहा था कि उसमें मनुष्य जैसे हैं उस से बढ़ कर दिखाये जाते हैं, तब नकलनवीस कला का खंडन हो गया था। और जब वाल्मीकि ने अपने चरित्र-नायक के गण गिना कर नारद से पूछा

कि ऐसा मनुष्य कौन है ? तब नारद ने पहले यही कहा—"बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणा: ।" दुर्लभ गुणों को एक ही पात्र में दिखा कर आदि कवि ने समाज को दर्पण में प्रतिबिम्बित न किया था वरन् प्रजापति की तरह नयी सृष्टि की थी।

कवि की यह सृष्टि निराधार नहीं होती। हम उस में अपनी ज्यों की त्यों आकृति भले ही न देखें, पर ऐसी आकृति जरूर देखते हैं जैसी हमें प्रिय है, जैसी आकृति हम बनाना चाहते। 'जिन रेखाओं और रंगों से कवि चित्र बनाता है, वे उस के चारों ओर यथार्थ जीवन में बिखरे होते हैं और चमकीले रंग और सुघर रूप ही नहीं, चित्र के पार्श्व भाग में काली छायाएँ भी वह यथार्थ जीवन से ही लेता है।, राम के साथ वह रावण का चित्र न खींचे तो गुणवान, वीर्यवान, कृतज्ञ, सत्यवाक्य, दृढ़व्रत, चरित्रवान, दयावान, विद्वान, समर्थ और प्रियदर्शन नायक का चरित फीका हो जाय और वास्तव में उस के गुणों के प्रकाशित होने का अवसर ही न आये।

कवि अपनी रुचि के अनुसार जब विश्व को परिवर्तित करता है तो यह भी बताता है कि विश्व से उसे असन्तोष क्यों है, वह यह भी बताता है कि विश्व में उसे क्या रुचता है जिसे वह फलता-फूलता देखना चाहता है।' उस के चित्र के चमकीले रंग और पार्श्वभूमि की गहरी काली रेखाएँ—दोनों ही यथार्थ जीवन से उत्पन्न होते हैं। इसलिये प्रजापति-कवि गम्भीर यथार्थवादी होता है, ऐसा यथार्थवादी जिस के पाँव वर्त्तमान की धरती पर हैं और आँखें भविष्य के क्षितिज पर लगी हुई हैं।,

· इसीलिये मनुष्य साहित्य में अपने सुख-दुख की बात ही नहीं सुनता, वह उसमें आशा का स्वर भी सुनता है। साहित्य थके हुए मनुष्य के लिए विश्रान्ति ही नहीं है, वह उसे आगे बढ़ने के लिये उत्साहित भी करता है।,

'यदि समाज में मानव-सम्बन्ध वही होते जो कवि चाहता है, तो शायद उसे प्रजापति बनने की जरूरत न पड़ती। उसके

असन्तोष की जड़ ये मानव-सम्बन्ध ही हैं। मानव-सम्बन्धों से परे साहित्य नहीं है। कवि जब विधाता पर साहित्य रचता है, तब उसे भी मानव-सम्बन्धों की परिधि में खींच लाता है। इन मानव संबन्धों की दीवाल से ही हैमलेट की कविसुलभ सहानुभूति टकराती है और शेक्सपियर एक महान ट्रैजेडी की सृष्टि करता है। ऐसे समय जब समाज के बहुसंख्यक लोगों का जीवन इन मानव-सम्बन्धों के पिंजड़े में पंख फटफाटने लगे, सींकचे तोड़ कर बाहर उड़ने के लिये आतुर हो उठे, उस समय कवि का प्रजापति रूप और भी स्पष्ट हो उठता है। वह समाज के द्रष्टा और नियामक के मानव-विहग से क्षुब्ध और रुद्धस्वर को वाणी देता है। वह मुक्त गगन के गीत गा कर उस विहग के परों में नयी शक्ति भर देता है। साहित्य जीवन का प्रतिबिम्बित रह कर उसे समेटने, संगठित करने और उसे परिवर्तन करने का अजेय अस्त्र बन जाता है।,

पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी में हिन्दी-साहित्य ने यही भूमिका पूरी की थी। सामन्ती पिंजड़े में बन्द मानव-जीवन की मुक्ति के लिये उस ने वर्ण और धर्म के सींकचों पर प्रहार किये थे। कश्मीरी लल देद, पंजाबी नानक, हिन्दी सूर-तुलसी-मीरा-कबीर, बंगाली चंडीदास, तमिल तिरुवल्लुवर आदि-आदि गायकों ने आगे-पीछे समूचे भारत में उस जीर्ण मानव-संबन्धों के पिंजड़े को झकझोर दिया था। इन गायकों की वाणी ने पीड़ित जनता के मर्म को स्पर्श कर उसे नये जीवन के लिये बटोरा, उसे आशा दी, उसे संगठित किया और जहाँ-तहाँ जीवन को बदलने के लिये संघर्ष के लिये आमंत्रित भी किया।

१७वीं और २०वीं सदी में बंगाली रवीन्द्रनाथ, हिन्दी भारतेन्दु, तेलगू वीरेशलिंगम्, तमिल भारती, मलयाली वल्लतोल आदि-आदि ने अंग्रेजी राज और सामन्ती अवशेषों के पिंजड़े पर फिर प्रहार किया। एक बार फिर उन्होंने भारत की दुखी पराधीन जनता को

बटोरा, उसे संगठित किया, उस की मनोवृत्ति बदली, उसे सुखी स्वाधीन जीवन की तरफ बढ़ने के लिये उत्साहित किया ।

साहित्य का पाञ्चजन्य समर भूमि में उदासीनता का राग नहीं सुनाता । वह मनुष्य को भाग्य के आसरे बैठने और पिंजड़े में पख फटफटाने की प्रेरणा नहीं देता । इस तरह की प्रेरणा देनेवालों के वह पंख कतर देता है । वह कायरों और पराभव-प्रेमियों को ललकारता हुआ एक बार उन्हें भी समरभूमि में उतरने के लिये बुलावा देता है । कहा भी है—"क्लीबानां धाष्टर्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम् ।" भरत मुनि से लेकर भारतेन्दु तक चली आती हुई हमारे साहित्य की यह गौरवशाली परंपरा है । इसके सामने निरुद्देश्य कला, विकृत काम-वासनाएँ, अहंकार और व्यक्तिवाद, निराशा और पराजय के 'सिद्धान्त' वैसे ही नहीं ठहरते जैसे सूर्य के सामने अन्धकार ।

अभी भी मानव संबन्धों के पिंजड़े में भारतीय जीवन विहग बंदी है । मुक्त गगन में उड़ान भरने के लिये वह व्याकुल है । लेकिन आज भारतीय जनजीवन संगठित प्रहार कर के एक के बाद एक पिंजड़े की तीलियाँ तोड़ रहा है । धिक्कार है उन्हें जो तीलियाँ तोड़ने के बदले उन्हें मजबूत कर रहे हैं, जो भारतभूमि में जन्म लेकर और साहित्यकार होने का दंभ कर के मानवमुक्ति के गीत गा कर भारतीय जन को पराधीनता और पराभव का पाठ पढ़ाते हैं । ये द्रष्टा नहीं हैं, इन की आँखें अतीत की ओर हैं । ये स्रष्टा नहीं हैं, इन के दर्पण में इन्हीं की अहंवादी विकृतियाँ दिखाई देती हैं । लेकिन जिन्हें इस देश की धरती से प्यार है, इस धरती पर बसनेवालों से स्नेह है, जो साहित्य की युगान्तरकारी भूमिका समझते हैं, वे आगे बढ़ रहे हैं । उन का साहित्य जनता का रोष और असंतोष प्रकट करता है, उसे आत्मविश्वास और दृढ़ता देता है, उन की रुचि जनता की रुचि से मेल खाती है और कवि उसे बताता है कि इस विश्व को किस दिशा में परिवर्तित करना है ।

प्रजापति की अपनी भूमिका भूल कर कवि दर्पण दिखानेवाला ही रह जाता है, वह ऐसा नकलची बन जाता है जिस की अपनी कोई असलियत न हो। कवि का व्यक्तित्व पूरे वेग से तभी निखरता है जब वह समर्थ रूप से परिवर्तन चाहनेवाली जनता के आगे कवि-पुरोहित की तरह आगे बढ़ता है। इसी परंपरा को अपनाने से हिंदी साहित्य उन्नत और समृद्ध हो कर हमारे जातीय सम्मान की रक्षा कर सकेगा।

—१९५२

७

* *

हिन्दी समालोचना का उत्तरदायित्व

आलोचना या साहित्य का अन्य कोई अंग अपने से पूर्व की रचनाओं का ध्यान रखे बिना सम्यक् रूप से विकास नहीं कर सकता। साहित्य का पौधा वर्त्तमान की धरती पर उगता है लेकिन उस की जड़ें अतीत के गर्भ में फैली होती हैं। इसलिये हम नये समालोचना-साहित्य की सृष्टि करते समय लक्षण-ग्रन्थों, टीकाओं, पुरानी परिपाटी और परम्पराओं की अवहेलना नहीं कर सकते। रीतिकालीन समालोचना का आधार कवि के वाग्वैचित्र्य का निदर्शन है। जिस प्रकार उस समय के कवि काव्य की पराकाष्ठा उक्ति-चातुरी में मानते थे, उसी प्रकार उस समय के आलोचक भी—जो बहुधा कवि भी होते थे—उक्ति-चातुरी निदर्शन को ही आलोचना की पराकाष्ठा मानते थे। फिर भी उन्हों ने टीका लिखने की जो परिपाटी चलाई थी, उस का उपयोग हम पिछले दस वर्षों के साहित्य—विशेष रूप से छायावादी कविता के लिए कर सकते हैं। इस परि-

पुराने दोनों ही तरह के कठिन ग्रन्थों को समझने में सहायता मिलेगी। उदाहरण के लिए रामचरित मानस का एक ऐसा संस्करण निकलना चाहिये जिसमें टीका के साथ-साथ यह भी बताया जाय कि पहले के टीकाकारों का क्या-क्या मत रहा है, विशेष पंक्तियों के पाठान्तर कौन-कौन से हैं, संस्कृत ग्रन्थों से कहाँ-कहाँ पर गोस्वामी जी ने भाव लिये हैं, इत्यादि। छायावादी कवियों की रचनाओं के ऐसे भरे-पूरे संस्करण तो और भी सफलता से निकाले जा सकते हैं।

इसी प्रकार लक्षण-ग्रन्थों को भी साहित्यिक कलाबाजी के नाम पर इकबारगी टाला नहीं जा सकता। निस्सन्देह इन ग्रन्थों में साहित्य को उस के भेदों उपभेदों में जकड़ दिया गया है, फिर भी उस विश्लेषण के आधार पर अथवा उससे प्रेरणा ले कर हम साहित्य के मूल्यांकन के नये मापदंड स्थापित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए रस-सिद्धांत एक बहुत ही भरा-पूरा और विस्तार पाया हुआ सिद्धांत है। उस के आध्यात्मिक रूपक को हटाने के बाद उस में बहुत-सा सार-तत्व बच रहता है जो आधुनिक समालोचना के लिए महत्वपूर्ण होगा। कुछ लोग रस-सिद्धांत और नायिका-भेद को कथित मनोविज्ञान की कसौटी पर परख कर उसे साहित्य-शास्त्र का इत्यलम् मान बैठते हैं। ऐसा करने से पहले इन लोगों को यह सिद्ध करके दिखा देना चाहिये कि उन का कथित मनोविज्ञान वैज्ञानिक है।

प्राचीन समालोचना साहित्य की निधि को बटोरते हुए संत कवियों की देन को भी न भूल जाना चाहिये। इन्होंने लक्षण-ग्रंथ भले न लिखे हों, लेकिन मध्यकालीन आलोचना-साहित्य को इन की देन शायद सबसे महान है। उस समय के साहित्य में विवाद के कौन-से प्रश्न थे, इस बात को ध्यान में रखें तो उन की अनेक उक्तियाँ स्पष्ट हो जायँगी। उदाहरण के लिए उस समय भी कट्टर-पंथियों का एक ऐसा दल था जो जनसाधारण की भाषाओं को हेय समझता था और इस बात का दावा करता था कि श्रेष्ठ साहित्य की

गोस्वामी तुलसीदास ने बार-बार अपने भदेसपन का उल्लेख किया है और चुनौती के स्वर में कह डाला है—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच ।
काम जु आवै कामरी, का लै करै कुमाँच ।।

इसी प्रकार प्रबन्ध काव्य कैसा हो, छन्द-सौंदर्य किस कोटि का हो, काव्य का विषय क्या होना चाहिये—इत्यादि प्रश्नों पर गोस्वामी जी ने बड़ी स्पष्टता से अपने विचार प्रकट किये हैं। इन से हमें मध्यकालीन साहित्य के अंतर्विरोधों को समझने में सहायता मिलती है।

यह भी आवश्यक है कि हिन्दी के समालोचक पुरानी साहित्यिक मान्यताओं का मूल्यांकन करें।

हिन्दी के पुराने साहित्य पर आलोचनात्मक ग्रन्थों की कमी नहीं है, लेकिन क्या हम कह सकते हैं कि इन से उस साहित्य का समुचित मूल्यांकन हो जाता है? इन ग्रन्थों ने एक हद तक नये मूल्यांकन की भूमि तैयार कर दी है, फिर भी उन में जो कमी है उस का कारण एक सही दृष्टिकोण का अभाव है। उदाहरण के लिए जब हम सूरदास की काव्य-वस्तु और उन की कला को परखते हैं, तो बहुधा यह भूल जाते हैं कि ये दोनों ही एक सांस्कृतिक प्रवाह का अंग हैं। हम उन्हें जड़ मान कर आलोचना की खुर्दबीन के नीचे रख कर परखते हैं। समाज के समान साहित्य भी गतिमूलक है और हम उस के प्रवाह को अगतिमूलक, जड़ अथवा अनैतिहासिक दृष्टिकोण से नहीं परख सकते। ऐतिहासिक दृष्टिकोण का यह मतलब नहीं है कि हम हर पुराने लेखक को यह फतवा दें कि कल तक वह प्रगतिशील था, आज नहीं रहा। ऐतिहासिक दृष्टिकोण साहित्य के सौंदर्य से हमें परिचित कराने में सहायक होता है। रीतिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि समझने पर मीरा के गीतात्मक पदों का महत्त्व कम होने के बदले और भी निखर उठता है। भाव और रूप दोनों को ही हृदयंगम करने में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सहायता मिलती है।

इस के बिना हम अपनी सांस्कृतिक परंपराओं को वैज्ञानिक रूप से दूसरे देशों के सामने प्रस्तुत नहीं कर सकते।

पुराने साहित्य का मूल्यांकन जब परीक्षाओं में सफलता पाने के लिए या अपनी ज्ञान-गंभीरता दिखाने मात्र के लिये न होगा, तब समालोचक आज के साहित्य से भी उस की कड़ी जोड़ेंगे। इस का यह मतलब नहीं कि वर्तमान साहित्य की आवश्यकताओं के अनुसार पिछले साहित्य को तोड़ा-मरोड़ा जाय। उद्देश्य यह है कि पुराने साहित्य के अंतर्विरोधों को भी हम समझें और उस के जो रचनात्मक तत्त्व हैं, उन्हें अपने नये साहित्य में विकसित करें। ब्रज-भाषा के साहित्य से शब्दों के प्रयोग के बारे में हम बहुत-सी बातें सीख सकते हैं। एक ओर तो इस साहित्य में देशज और तद्भव शब्दों को बड़ी खूबी से अपनाया गया है, दूसरी ओर जहाँ-तहाँ उक्ति-चातुरी के फेर में शब्दों के साथ खिलवाड़ भी किया गया है। यह एक अंतर्विरोध है जिसे नये समालोचकों को स्पष्ट करना चाहिये, नहीं तो नई पीढ़ी के पाठक या तो सभी प्राचीन काव्य-रूपों के अंध-उपासक बन जायँगे—या उनसे वैसे ही अंध घृणा करने लगेंगे।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रूपमात्र का विवेचन हमें अभीष्ट नहीं हो सकता। साहित्यकार जिस भाव-समुद्र में डूब कर अनूठे मोती निकालता है, समालोचक 'कला, कला के लिए' कह कर उस समुद्र के तटस्थ नहीं रह सकता। प्रत्येक महान साहित्यकार अपनी काव्य-वस्तु से उदासीन होने के बदले उस में यहाँ तक तन्मय होता है कि वह उसके जीवन का एक अङ्ग बन जाती है। इस तन्मयता के बिना, काव्यरूप की उपासना के बल पर ही, आज तक किसी साहित्यकार को सिद्धि नहीं मिली। इसलिए यह आवश्यक है कि हम साहित्य का मूल्यांकन सामाजिक संघर्ष की पृष्ठभूमि में भी करें। यह आक्षेप कि इस तरह हम साहित्य की साहित्यता कम कर देते हैं और उस पर राजनीति आदि इतर-विषय लाद देते हैं, भ्रामक है। निश्चय ही साहित्य की कसौटी राजनीति की कसौटी नहीं है,

परन्तु क्या इस से साहित्यकार अपने सामाजिक और राजनीतिक उत्तरदायित्व से बरी हो जाता है? साहित्य-रचना एक सामाजिक क्रिया है जो मनुष्य के मन पर अपना प्रभाव छोड़ती है और इन संस्कारों द्वारा उस के कार्यों को बाँध लेती है। यदि मनुष्य के सामाजिक कर्म पर साहित्य का प्रभाव न पड़े तो समालोचक का कार्य बहुत सरल हो जाय, यद्यपि इसके साथ ही साहित्यकार का दर्जा भी घट कर बहुत छोटा हो जाय।

आलोचक सामयिक साहित्य के सामाजिक महत्त्व की ही ओर इंगित नहीं करता, उसे इस बात का भी अधिकार है कि वह साहित्य रचना के लिए पथ-निर्देश करे। मन की उमंग की बात सही है; बिना उमंग के पथ-निर्देश करने पर भी साहित्यकार सफल रचना न कर पायेगा। परन्तु उमंग के नाम पर साहित्यकार और समालोचक दोनों ही समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्त्व को नहीं भुला सकते। साहित्यकार को छूट है कि वह रेगिस्तान पर कविता लिखे या पहाड़ों की उपत्यका पर; लेकिन यदि समालोचक उस का ध्यान पहाड़ों की उपत्यका की ओर आकर्षित करता है तो इतने से ही वह अपराधी नहीं हो जाता। ऐसा भी होता है कि समाज की किन्हीं विशेष परिस्थितियों की ओर से अचेत रहने पर आवश्यक उमंग मन में पैदा ही नहीं होती। समालोचक को अधिकार है कि वह सचेत कर के इस उमङ्ग को पैदा करने में सहायक हो। उदाहरण के लिए बंगाल का अकाल या पंजाब का हत्याकांड ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिन का हमारी संस्कृति और सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। यदि कोई आलोचक इस बात की माँग करता है कि इन की ओर सचेत हो कर साहित्यकार अपनी प्रतिक्रिया लिखे, तो उस की माँग अनधिकार-पूर्ण नहीं कही जा सकती।

आज की परिस्थिति में समालोचक का उत्तरदायित्व पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गया है। उस के कंधों पर भार है कि वह अपने साहित्य और संस्कृति की उदार और जन-हितैषी परंपराओं की

रक्षा करे। जो लोग साहित्य को ठेल कर बर्बरता के युग में ले जाना चाहते हैं, घृणा और हत्या के भाव उकसाने के लिए उसे एक साधन बनाना चाहते हैं और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से शोषक वर्ग के स्वार्थों की रक्षा करना चाहते हैं, उन का विरोध करना प्रत्येक साहित्यकार और विशेष रूप से प्रत्येक समालोचक का कर्त्तव्य है। यह उत्तरदायित्व समालोचकों पर है कि वे देश के नये जनजागरण को वास्तविक जागरण बनायें। जो नया साहित्य दिन-प्रति-दिन रचा जाता है, उस तक जनता को लाना और जनता में सुसंस्कृत रुचि और ज्ञान के विस्तार करने का भार भी समालोचकों पर है। इस के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि समालोचक जनता के साथ-साथ अपनी शिक्षा का भी ध्यान रखें। उन के लिए आवश्यक है कि वे अपने देश के ही नहीं, विदेश के भी भिन्न-भिन्न साहित्यों, विशेष कर सामालोचना-साहित्यों से परिचय प्राप्त करें। उन का अनुवाद करना और उन पर निबंध लिख कर अपनी और दूसरों की जानकारी बढ़ाना, उन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण तात्कालिक कर्त्तव्य है।

हिन्दी समालोचकों पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है और कोई एक आदमी अकेले ही उसे निभा भी नहीं सकता; परन्तु यदि सभी लोग एक लक्ष्य से सहमत हो कर मिल-जुलकर प्रयास करें तो कोई कारण नहीं कि भारतीय साहित्य में हिन्दी के समालोचना-साहित्य को भी अन्यतम स्थान प्राप्त न हो।

—**फरवरी, १९४८**

८

* *

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम् !

शिष्य के हाथ से वस्त्र ले कर ऋषि वाल्मीकि तमसा नदी के किनारे वन में घूम रहे थे। वहाँ पर सदा साथ रहनेवाले और मधुर शब्द करनेवाले क्रौञ्च पक्षियों के जोड़े को उन्हों ने देखा। उसी समय एक पापात्मा व्याध ने उन में से एक पक्षी को मार डाला। उसे खून में लथपथ धरती पर पड़ा हुआ देख कर उस की स्त्री करुण स्वर में रोने लगी। धर्मात्मा ऋषि के मन में करुणा उत्पन्न हुई। करुणा के भाव से उन्हों ने समझा कि यह अधर्म है। रोती हुई क्रौञ्ची को देख कर उन्हों ने व्याध को शाप दिया—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

निषाद ! तुम बहुत दिनों तक इस संसार में जीवित न रहो, क्योंकि क्रौञ्चमिथुन में से एक काममोहित पक्षी को तुम ने मार डाला है।

तपोवनवासी ऋषि ने आततायी व्याध को शाप दे डाला। संसार से विराग लेने पर भी हृदय में क्रोध और करुणा के भाव

बने हुए थे। उदासी तपस्वी सांसारिक घटनाओं के प्रति तटस्थता की नीति न अपना सके। क्रौञ्ची का करुण स्वर सुन कर योग द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध करने के बदले वे स्वयं करुणा से अभिभूत हो उठे। फिर आवेश में हत्यारे व्याध को शाप भी दे डाला— "जा! तू भी अधिक दिनों तक जीवित न रह!" जितेन्द्रिय ऋषि का मन क्रोध से क्षुब्ध हो उठा। ऋषि ने व्याध और क्रौञ्च की को समान रूप से काव्य के लिए उपयुक्त सामग्री न मान कर पक्ष-पात के साथ अपनी सहानुभूति की घोषणा कर दी। और यह सब इतने आवेश में हुआ कि महात्मा वाल्मीकि साधारण गद्य छोड़ कर समान अक्षरवाले चार पदों के सुन्दर श्लोक में बोल उठे। इस प्रकार करुणा और क्रोध की भावधारा से आदि कवि के स्वतः-स्फूर्त प्रथम श्लोक का जन्म हुआ। मुनि के शिष्य प्रसन्न हुए। वे गुरु के बनाये हुए श्लोक को आनन्द और विस्मय के साथ पढ़ने लगे और उस पर यह टिप्पणी की—"शोकः श्लोकत्वमागतः"—ऋषि के शोक ने ही मानों श्लोक का रूप धारण कर लिया हो!

इस प्रकार आदिकाव्य के प्रथम छन्द का जन्म हुआ। भारतीय काव्य-साहित्य के आरंभ में ही कवि वाल्मीकि ने साहित्यकार की तटस्थता को निर्मूल कर दिया। भाव-सौंदर्य और शब्द-संगीत को उन्हों ने अभिन्न रूप से मानव-हृदय की श्रेष्ठ भावनाओं के साथ जोड़ दिया। और तब कवि ने सात कांड, पाँच सौ सर्ग और चौबीस हजार छन्दों का महाकाव्य रामायण रचा। इस में उन्हों ने कौशल्या और सीता के करुण जीवन का मार्मिक चित्रण किया, भरत के त्याग, रावण की क्रूरता और राम की शूरता और धीरता का वर्णन किया। हर काण्ड और हर सर्ग में यह वनवासी कवि न्याय का समर्थन और अन्याय का विरोध करता रहा। उस की सहानुभूति पीड़ितों के साथ है, पीड़ा देनेवालों के लिए उसके हृदय में जलता हुआ क्रोध है। यह कवि मानवता का समर्थक है और अपने चरित-नायक राम से भाग्य को चुनौती दिलाता है—"दैवसम्पादितो दोषो

मानुषेण मया जितः" । भाग्य ने सीताहरण कराया; राम ने मनुष्य की गौरवपताका फहराते हुए रावण का वध किया और भाग्य-दोष का निवारण किया ।

चौबीस हजार छन्दों के उस ग्रन्थ को लव-कुश गाते थे । गन्धर्व के समान सुन्दर लव-कुश ने स्थान और मूर्च्छना का ध्यान रखते हुए जब ऋषियों की सभा में इस काव्य को गा कर सुनाया, तो उन वनवासी वीतराग ऋषियों की आँखों से आँसू बहने लगे और वे इस नवीन काव्य-सौन्दर्य से विस्मित हो कर साधु-साधु कह उठे । वे निश्चय कर न पाये कि लव-कुश का कंठस्वर अधिक मधुर है या श्लोकों का भाव उनकी विह्वलता का कारण है । किसी ने लव-कुश को एक घड़ा दिया, किसी ने वल्कल, किसी ने कमण्डलु, किसी ने कौपीन और किसी ने केवल आशीर्वाद ।

दसों शताब्दियाँ बीत जाने के बाद भारत का एक नवीन कवि "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम्" आदि श्लोकों को उतने ही विस्मय और आह्लाद से पढ़ रहा था जितने विस्मय और आह्लाद से वाल्मीकि के शिष्यों ने उन्हें पढ़ा था । वाल्मीकि के सुन्दर श्लोकों को वह उतनी ही मधुर वाणी से पढ़ता था जितनी मधुर वाणी से लव-कुश ने पढ़ा था । कौशल्या और सीता की वेदना देख कर उस की आँखों से वैसे ही आँसू बहते थे जैसे वाल्मीकि के तपोवन-वासी ऋषियों की आँखों से बहे थे । उस ने अपने आवेश को रचनात्मक सौन्दर्य का रूप देकर "भाषा औ' छन्द" नाम की कविता लिखी । उस ने कल्पना से वाल्मीकि को उसी तरह देखा जिस तरह वाल्मीकि ने राम को देखा था । तमसा नदी के किनारे ऋषि वाल्मीकि आवेश में घूम रहे हैं । हृदय का आवेग रोके नहीं रुकता । जिस तरह आषाढ़ के दिनों में ब्रह्मपुत्र का वेग आसपास के झाड़-झंखाड़ बहाता हुआ चलता है, उसी तरह आदिकवि का भावावेग अप्रतिहत गति से आगे बढ़ रहा है : इस नये छन्द से किसे अमर करूँ--किसी देवता को या मनुष्य को ? और वाल्मीकि ने निश्चय किया--मनुष्य को ।

"भाषा औ' छन्द" लिखनेवाले इस नये कवि का नाम रवीन्द्रनाथ ठाकुर था। उस ने जीवन भर न्याय और मनुष्यता का पक्ष लिया। उस के देश में विदेशी लुटेरे आये, उसी तरह जैसे तमसा नदी के किनारे वह हत्यारा व्याध गया था। इन विदेशी लुटेरों ने रौलट ऐक्ट बनाया, तीर-कमान के बदले आग उगलती हुई बंदूकें बनायीं और किसी पक्षी को नहीं वरन् दूध पीते हुए बच्चों, माताओं, वृद्धों और युवकों को हजारों की तादाद में भून डाला। जलियाँवाला बाग की धरती कभी न सूखनेवाले लहू से भीग गयी। हत्यारे व्याधों के आतंक से समाज के नेताओं के मुँह से बोल न फूटे। परन्तु वह कवि, जिस ने वाल्मीकि के छन्दों पर आँसू बहाये थे, उन नेताओं के पास गया और उन से बोला—"जलियाँवाला हत्याकांड के विरोध में सभा कीजिये; सभा का नेतृत्व करने के लिए मैं तैयार हूँ!" फिर भी उन नेताओं का साहस न जागा। तब उस कवि ने, जिसका अभिनन्दन सारे संसार ने किया था, ब्रिटिश आतंकवादियों को एक पत्र लिखा—तुम ने जिन्हें निर्दयता से मारा है, उन का यही तो दोष था कि वे मनुष्य के समान रहना चाहते थे? मैं घोषणा करता हूँ कि मैं इस साधारण मनुष्यों के साथ हूँ, तुम्हारे विरुद्ध हूँ!

भारत की जनता आदर से इस कवि को गुरुदेव कहती थी, उसी तरह जैसे दसों शताब्दियों पहले भारत की जनता वाल्मीकि को आदि कवि कहती थी।

"भाषा औ' छन्द" लिखनेवाले के सिर और दाढ़ी के बाल जब बिल्कुल सफेद हो गये—लोगों ने उसे मंच पर वाल्मीकि का अभिनय करते देखा था, पर अब मानों अभिनय और मंच की आवश्यकता न रह गयी थी—तब जापानी दस्युओं ने चीन पर आक्रमण किया और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों की तरफ बढ़ने लगे। साम्राज्यवाद के चारण कवि नौगूची ने इस दस्यु-कार्य का समर्थन किया और अपनी स्वाधीनता के लिए लड़नेवाली वीर चीनी जनता का तिर-

स्कार किया। जलियाँवाला बाग के शहीदों का साथ देनेवाले कवि ने नौगूची को वैसे ही पत्र लिखा जैसा उस ने ब्रिटिश आतंकवादियों को लिखा था—तुम ने जिन्हें निर्दयता से मारा है, उन का यही तो दोष था कि वे मनुष्य के समान रहना चाहते थे ? मैं घोषणा करता हूँ कि मैं इन साधारण मनुष्यों के साथ हूँ, तुम्हारे विरुद्ध हूँ !

तमसा नदी के तटवाले वन से ले कर शान्तिनिकेतन तक दस शताब्दियों के बीच आदिकवि की वह वाणी गूँजती रही—'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम्' मानवीय सहृदयता, करुणा, अन्याय के प्रति क्रोध से भरी हुई वह वाणी भारतीय जनता की मर्मवाणी है। है। नयी पीढ़ी के लेखकों से यह वाणी पूछती है—तुम किस के साथ हो ? हत्यारे व्याध के साथ या सुन्दर गीत गानेवाले क्रौञ्च पक्षी के साथ ? निहत्थों पर गोलियां बरसानेवाले डायर के साथ, या जलियाँवाले बाग के शहीदों के साथ ? कोरिया के शिशुओं, वृद्धों और नर-नारियों पर अगणित बम बरसानेवाले मैकआर्थर के साथ, या प्राणों का मोह छोड़ कर शान्ति और स्वाधीनता के लिए लड़नेवाले कोरिया के वीरों के साथ ?

उस दिन वारसा (पोलैंड) शान्ति-कांग्रेस के मंचसे जब दक्षिण भारत के रवीन्द्रनाथ वृद्धकवि वल्लतोल ने शान्ति पर अपनी कविता पढ़ी, तब सारी सभा ने खड़े हो कर दीर्घ करतलध्वनिके साथ भारत के इस कवि का सम्मान किया। सत्तर देशों के योग्य प्रतिनिधियों ने उस दिन भारत की करुणा और क्रोध में डूबी हुई उस वाणी का अभिनन्दन किया—"मां निषाद प्रतिष्ठां त्वम् !"

और भारत के तमाम स्वाधीनताप्रेमी साहित्यकार, संसार के तमाम मैकआर्थरों और च्याङ काई शेकों से कहते हैं—तुम बहुत दिनों तक इस संसार में जीवित न रहो, क्योंकि स्वाधीन मनुष्य की तरह जीवन बिताने की इच्छा रखनेवाली शान्तिप्रेमी जनताका तुम वध कर रहे हो।

संसारका विराट् शान्ति आन्दोलन आज इस वाणी को चरितार्थ करने के लिए कटिबद्ध है।

—फरवरी १९५१

६

* *

सन्त-साहित्य की ऐतिहासिक भूमिका

भारत में अंग्रेजी राज कायम होने से पहले यहाँ साहित्य की जो देशव्यापी धारा प्रवाहित थी, उसे हम सन्त-साहित्य कहते हैं। इस धारा का स्रोत न तो राजदरबार थे, न मन्दिर और मस्जिद। इस धारा का स्रोत भारतीय जनता का हृदय था। सदियों से वर्णाश्रम धर्म और सामन्ती शासन की चट्टानों के नीचे जो धारा घुमड़ रही थी, वह मध्यकाल में हठात् फूट पड़ी और उस ने कश्मीर से ले कर कन्याकुमारी तक, बंगाल से ले कर गुजरात तक इस देश की विशाल धरती को सींच दिया। इतने बड़े पैमाने पर तब तक मानव-इतिहास में किसी साहित्यिक धारा का प्रसार न हुआ था। यूरोप का भव्य रिनैसाँस इसके सामने बहुत ही सीमित है। केवल बीसवीं सदी में समाजवादी विचारधारा से प्रभावित साहित्य देशों की सीमाएँ तोड़ कर उस से भी बड़े पैमाने पर फैला है। यह सच है कि यूरोप के पूँजीवाद ने विश्वव्यापी बाजार कायम किया और देशों का अलगाव खत्म किया। लेकिन यह पूँजीवाद पिछड़े

यही उन के प्रेम का मूल सूत्र है। इसीलिए मानवता को ऊँच-नीच में बाँटनेवाली, जाति, वर्ण और धर्म के नाम पर मानव से घृणा सिखानेवाली विचारधारा का वे विरोध करते हैं। सूर और तुलसी में राम और कृष्ण की कथा के माध्यम से प्रेम और भी स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ है।

संतों के लिए संसार सत्य है या मिथ्या? उन के सैकड़ों पद ऐसे मिलेंगे जिनमें इस मिथ्या संसार से नाता तोड़ कर शाश्वत सत्य या परलोक से नाता जोड़ने का उपदेश दिया गया है। कुछ विद्वानों के लिए सन्त-साहित्य का यही मूल सन्देश है। वास्तव में यह मायावाद सन्त-साहित्य का सब से कमजोर पहलू है। उस का ऐतिहासिक कारण यह है कि उस समय किसी क्रान्तिकारी वर्ग के नेतृत्व में देश की सामन्तविरोधी जनता का संगठन नहीं हुआ था। इसीलिए एक कल्पित आनन्द, कल्पित साधना द्वारा मनुष्य अपने हृदय को ढाढ़स बँधाता था। सन्त-साहित्य का यह मायावादी रूप उस के सामन्ती विरोधी, संघर्षप्रिय चुनौती देनेवाले सामाजिक रूप से टकराता है, उसे सीमित करता है। फिर भी तुलसीदास की यह स्पष्ट उक्ति है--

झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग संत कहंत जे अन्त लहा है।
जानपने को गुमान बड़ो तुलसी के विचार गँवार महा है।।

सूरदास की गोपियाँ जब योग को कोसती हैं, तुलसी की ग्रामवधुएँ जब सीता से पूछती हैं, "कहौ साँवरे से सखि रावरे को हैं?" जब मीरा विह्वल होकर गाती है, "अँसुअन जल सींचि-सींचि प्रेम बलि बोई"--तब सन्त-साहित्य की धारा मानवप्रेम की ही प्रतिष्ठा करती है, वह इसी संसार में मनुष्य के परस्पर सुखद सम्बन्धों को गौरवान्वित करती है।

सन्त-साहित्य की प्रबल धारा ने समाज के ऐसे स्तरों को जगाया, जो सबसे पीड़ित थे और संस्कृति से वंचित थे। अछूत और नीच कहलानेवाले लोगों में सन्तों का जन्म हुआ। इन सब लोगों

के लिए न मन्दिर में जगह थी, न मस्जिद में। इन का निर्गुणवाद मंदिर-मस्जिद, वेद, पुराण और कुरान के विरुद्ध चुनौती बन कर आया है। वे मन्दिर-मस्जिद की सीमाएँ नहीं मानते। भले ही इन का द्वार उन के लिए बन्द हो, वह अपने हृदय में साहब का दर्शन कर लेते हैं।

सन्त-साहित्य इन पीड़ित जातियों का क्रोध अच्छी तरह प्रकट करता है। सदियों का दबा हुआ सम्मान, सदियों का संचित अपमान कड़वी उक्तियों में फूट पड़ता है, भले ही उन्होंने उपदेश दिया हो—

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपहु सीतल होय॥

तुलसीदास ने अपने विरोधियों के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, देखिये, वे कितने शीतल हैं। ऊपर "गँवार महा है" की उक्ति एक मिसाल है। कबीर का तो कहना ही क्या? हिन्दू और मुसलमान होने का दंभ करनेवालों पर, ब्राह्मण और ऊँची जाति का होने पर गर्व करने वालों पर उन्होंने क्या-क्या वार किये हैं—

"साधो पाँड़े निपुन कसाई।
बकरी मारि भेड़ि को धाये, दिल में दरद न आई।"

सन्त-साहित्य हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलानेवाला, उनकी धार्मिक कट्टरता की कटु आलोचना करनेवाला, जाति-प्रथा और ऊँच-नीच का भेद मिटानेवाला साहित्य है।

सामंती समाज में पुरोहितों ने नारीमात्र को संस्कृति के चौके से बाहर कर दिया था। बहुत दिनों के बाद नारी ने इस चौके की सीमाएँ तोड़ कर साहित्य के क्षेत्र में पैर रखा। मध्यकालीन भारत में नारी-जागरण की प्रतीक अमर गायिका मीरा है। सन्तों ने नारी को साधना में बाधक समझा; लेकिन सूर, तुलसी, चंडीदास आदि कवियों ने उस के प्रति संवेदना प्रकट की और उस के प्रेम और सौन्दर्य के गीत गाये।

सन्त-साहित्य नयी जातीय चेतना का साहित्य है। यह जातीय चेतना भाषाप्रेम के रूप में प्रकट होती है। संत कवि संस्कृत और

फारसी की तुलना में भाषा के रस की प्रशंसा करते हैं। दिल्ली-दरबार के खिलाफ भारत की जातियों ने जो संघर्ष किया, उस से सन्त-साहित्य का निकट संबन्ध था। सन्त कवियों ने दरबारी वीर-रस का मार्ग छोड़ कर प्राचीन महाकाव्यों के आधार पर वीर-भावना का संचार किया। इसी उद्देश्य से मराठी के संत कवि समर्थ गुरु रामदास ने सुन्दरकाण्ड और युद्धकाण्ड की रचना की थी। तुलसीदास को धनुर्धारी राम इसीलिए प्रिय हैं। स्वामी रामदास ने दासबोध में सैन्यसंगठन और किलेबन्दी पर भी रचनाएँ की हैं। पर सब सन्त-साहित्य के जातीय पक्ष का प्रमाण है।

सन्त-साहित्य ने कलात्मक सौंदर्य को और विकसित किया। उन की कला का मूल आधार लोक-संस्कृति थी। तुलसी और जायसी की चौपाइयाँ, कबीर के दोहे और साखियाँ, मीरा के भजन जनता के अपने साहित्यक रूप थे। सन्त-कवियों ने अपनी ही गेयता, माधुर्य और सरलता से दरबारी साहित्य को परास्त कर दिया। आज गुण में भी कोई भी दरबारी कवि उन का मुकाबला नहीं कर सकता। उन के रूपक और उपमाएँ अनूठी हैं। विशेष कर तुलसीदास में थोड़े से शब्दों में विराट् चित्र देने की अपूर्व क्षमता है। यही कारण है कि इन कवियों की सैकड़ों पंक्तियाँ जनता के कंठ में बस गयीं और उस की लोकसंस्कृति का अंग बन गयीं।

सन्तसाहित्य की यह ऐतिहासिक भूमिका है कि उस ने सामन्ती बन्धनों का विरोध करके सहज मानवता की प्रतिष्ठा की, उस ने जनता की जातीय और जनवादी चेतना को पुष्ट किया और उस के क्रोध, आशा और विजयकामना को वाणी दी। सन्त-साहित्य अंग्रेज साम्राज्यवादियों का यह दावा झूठा साबित करता है कि जब वे भारत में आये तब यह देश असंस्कृत था। सन्त-साहित्य हमें वह जनवादी आधार देता है जिस पर नयी जनसंस्कृति का प्रासाद बनाया जायगा, ऐसी संस्कृति का, जिसका उद्देश्य जनकल्याण होगा।

—दिसम्बर, १९५४

* *

बरदंत की पंगति कुंद कली

आज से लगभग साढ़े तीन साल पहले मध्यकालीन सामन्ती भारत में तुलसीदास ने लिखा था:—

"बरदन्त की पंगति कुन्दकली, अधराधर पल्लव खोलन की ।
चपला चमके घन बीच जगै, छवि मोतिन माल अमोलन की ।।
घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुण्डल लोल कपोलन की ।
निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाऊँ लला इन बोलन की ।।"

किसी शिशु भोलानाथ की छवि पर मुग्ध हो कर तुलसी ने प्रतिभा के आवेश में कवितावली के आरम्भ में यह और इस जैसी कुल सात सवैया लिख डाली थीं । इन मनोहर छन्दों में भावों की कुन्द जैसी शुभ्रता, शब्दों की पल्लवों जैसी कोमलता, उपमाओं की चपला जैसी चमक, अनुप्रासों की मोतियों जैसी लड़ियाँ, ध्वनि की घुँघरारी लटों जैसी लपेट, सवैया की कुण्डलों जैसी झूमती हुई गति, लला के बोलों जैसी कवि की सरलता, निछावर होनेवाले प्राणों जैसी उस की तन्मयता—यह सब सिद्ध करती हैं कि मध्यकालीन

सामन्ती भारत ने संस्कृति में ऐसे तत्व रचे थे जो उस समय के लिए मूल्यवान थे ही, आज के लिए भी मूल्यवान हैं।

संस्कृति के इन मुल्यवान तत्वों का ऐतिहासिक आधार है। मध्यकालीन समाज के वर्ग-सम्बन्धों से ऊपर उठ कर ये तत्व नहीं रचे गये। वास्तव में मध्यकालीन समाज के वर्ग सम्बन्धों के बारे में हमारे पास और दूसरी ऐतिहासिक सामग्री कुछ भी न होती, तो भी हम केवल तुलसीदास के सहारे उन सम्बन्धों का नक्शा खींच लेते।

"साको ही गोत गोत होत है गुलाम को"—यह पंक्ति पुकार-पुकार कर कहती है कि मध्यकालीन समाज में दास-प्रथा का अन्त न हुआ था। तुलसी की यह उक्ति जो उस समय की लोकोक्ति थी—शाह और गुलाम के वर्गसम्बन्ध को बहुत अच्छी तरह प्रकट करती है।

"भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोशला।"—समाज में जनता और शासक वर्ग का सम्बन्ध राजा और प्रजा का सम्बन्ध है—यह तथ्य तुलसी की रचनाओं में पग-पग पर मिलगा। यही सम्बन्ध अपने आदर्श रूप में भक्त और भगवान का सम्बन्ध बन जाता है। सामन्ती वर्ग-सम्बन्ध इस सांस्कृतिक रूप में प्रति-बिंबित होकर भक्त और भगवान की कल्पना के सामाजिक आधार की तरफ इशारा करता है।

"पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम वचन विप्र पद पूजा।"—निःसंदेह तुलसीदास की रचनाओं में जाति-प्रथा के बन्धन विप्रपद पूजा का विशद भार लिये पाठकों के सामने मौजूद हैं?

"सहज अपावन नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ।"—सामन्ती समाज में स्त्री की दासी जैसी पराधीनता, पुरुष का उस पर दासों के स्वामियों जैसा प्रभुत्व—यह वर्ग सम्बन्ध भी यहाँ प्रस्तुत है।

तुलसी जसि भवितव्यता, तैसी मिलै सहाय।

—दास-प्रथा का आधार-स्तम्भ भाग्यवाद यहाँ दलबल के साथ जमा हुआ है।

तब क्या यह कहना उचित होगा कि तुलसीदास सामन्ती समाज के प्रतिक्रियावादी कवि हैं? वे शोषक और उत्पीड़क वर्ग की सत्ता कायम रखने के लिए एक सांस्कृतिक आधार पेश करते हैं?

ऐसा सोचना बिल्कुल गलत होगा। प्रतिक्रियावादी वर्गों का पोषण करनेवाले कवि 'बरदन्त की पंगति कुन्द कली' नहीं लिखा करते।

तुलसी ने जहाँ राजा और प्रजा, दास और स्वामी, विप्र और शूद्र के सम्बन्धों को समाज के प्रचलित सम्बन्धों के रूप में स्वीकार किया है, इन सम्ब्रन्धों का विरोध भी किया है, इन सम्बन्धों से पैदा होनेवाली पराधीनता और व्यथा का चित्रण भी किया है। तुलसी के मानववाद का यही आधार है। सामन्ती उत्पीड़न से पैदा होनेवाली उनकी व्यथा, उस उत्पीड़न के विरोध में उन की करुणा और सहानुभूति उन की मानववादी संस्कृति का आधार है।

"बैरी पुनि छत्री, पुनि राजा। छलबल कीन्ह चहै निज काजा।।"
—इस पंक्ति में तुलसी ने जाति-प्रथा पर निर्भर सामन्ती वर्ग की कलई खोल दी है। न्याय के बदले उन की छलबल की नीति को उघाड़ कर रख दिया है।

रामायण में हास्य रस के स्थल ढूँढ़िये। इन का संबन्ध या तो दुष्ट राजाओं से होगा या घमण्डी ब्राह्मणों से।

"वृथा मरहु जनि गाल बजाई। मनमोदकन्ह कि भूख बुताई।।"
—यह उक्ति राजाओं के लिये ही है।

धनुष-यज्ञ के अवसर पर तुलसी मानो इस वर्ग को ही नीचा दिखाने पर तुल गये हैं। जनक भी लक्ष्मण के सामने श्रीहत और अप्रतिभ दिखाई देते हैं।

"द्विज देवता घरहि के बाढ़े"—यह परम प्रसिद्ध उक्ति घमंडी ब्राह्मणों के लिये है जिन के दुर्वासा रूप को तुलसी ने परशुराम के चरित्र में सदा के लिये हास्यास्पद बना दिया है।

परशुराम प्रसंग पढ़ने पर ब्राह्मणों के क्रोध और शाप का भय हवा में उड़ जाता है; तुलसी से पहले किसी ने भी ब्राह्मण-पात्र को इतना हास्यास्पद न बनाया था।

यह तो भूमि-सुरों का हाल था। जो स्वर्ग के सुर थे, उन की तो पूरी छीछालेदर हो गई है।

"सूख हाड़ लै भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जानि जड़, तिमि सुरपति हि न लाज॥"

जैसे शेर के सामने कुत्ता सूखी हड्डी ले कर भागते हुए अपनी बेशर्मी दिखाता है, वही हाल देवताओं के देवता श्री इन्द्र महाराज का है।

और भाग्यवाद? रामायण की पूरी कथा भाग्यवाद का विरोध है। वाल्मीकि के राम ने कहा था—

"दैवसम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः।" दैव-दुर्विपाक को राम ने मनुष्य हो कर जीत लिया था। तुलसी के मर्यादा-पुरुषोत्तम राम पर भी यह उक्ति लागू हो सकती है, जहाँ तक भाग्यवाद का सम्बन्ध है। लक्ष्मण कहते हैं—

"नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोखिअ सिन्धु करिअ मन रोसा।
कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥"

राम उत्तर देते हैं—"ऐसइ करब धरहु मन धीरा।" नहीं, राम के चरित से भाग्यवाद का समर्थन नहीं होता।

और नारी समाज? यह कल्पना करना कठिन है कि जो कवि नारी को सहज अपावन समझता था, उसे उस ने इतने मोहक और आकर्षक रूप में एक दो बार नहीं, बार-बार अपनी रचनाओं में चित्रित किया है। अगर नारी अपावन है तो उन को क्या कहा जाय जिन की दशा यह थी—"सिय मुख ससि भये नयन-चकोरा।" कहना चाहिये कि वह तो अपवित्रता की खान ही थे। मुख-शशि में नयन-चकोर किसी रहस्यामृत का पान कर रहे थे। उन की यह दशा "कंकन-किंकिनि नूपुर धुनि" में "मदन-दुंदुभी" सुनने से हुई थी!

नारी की अपावनता पर विश्वास दृढ़ करने के लिये यह चित्र भी अद्भुत ही था—

"बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पियतन चितइ भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि।।"

और मानों इस "अपावनता" का एक बार चित्रण करना काफी न था, इसलिये पुनश्च जब—"पूछति ग्रामबधू सिय सों कहो सांवरे से सखि रावरे को हैं।"

तब—"तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें समुझाइ कछू मुसकाइ चली।"

माया में लिप्त संसारी पाठकों को वैराग्य सिखाने का क्या ही उत्तम उपाय था!

और मान लीजिये, यह सब 'जगदंबिका रूप गुन खानी' की महिमा है, लेकिन वे ग्रामवधूटियाँ, पुष्पवाटिका की सहेलियाँ, मिथिला की पुरवधुएँ—हर जगह यह विराट् नारी समाज चित्रित करने की क्या जरूरत थी?

"वृन्द-वृन्द मिली चलीं लोगाईं। सहज सिंगार किये उठि धाईं।"

—अक्षरशः स्त्रियों के झुण्ड के झुण्ड निकल पड़े हैं, वह भी सहज श्रृङ्गार किये हुए।

"जुवती भवन झरोखन्हि लागीं। निरखहिं रामरूप अनुरागीं।"

वाह, वाह! झरोखों से झाँकना और राम-रूप को निरखना, वह भी अनुराग से। सहज-अपावनता की पराकाष्ठा है यह तो!

सीता की सखियाँ, एक से एक अपावन! एक कहती है—

"बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूप किसोर देखि किन लेहू।"

दूसरी कहती है—

"पुनि आउब एहि बिरियाँ काली। अस कहि मन बिहँसी एक आली।।"

कवितावली में कैकेयी और दशरथ को इन ग्राम-बधुओं से गालियाँ दिलवा कर तुलसी ने मानों पाठकों के ही क्षोभ को प्रकट कर दिया है। संसारी पाठकों और अपावन नारी समाज के बीच सहानुभूति की यह नयी कड़ी जोड़कर उन्होंने वैराग्य को दो अँजली पानी और दे दिया है।

"रानी मैं जानी अजानी महा, पबि पावन हूँ ते कठोर हियो है ।
राजहु काज अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जिन कान कियो है ।
ऐसी मनोहर मूरति ये बिछुरे, कैसे प्रीतम लोग जियो है ।
आँखिन में सखि राखिबे जोग इन्हें किमि कै बनवास दियो है ।"

तुलसी के लिये स्त्रियाँ सहज अपावन थीं तो वे सहज आकर्षक भी थीं और उनके रूप का वर्णन करना ऐसा पाप था जिसे करने से मानो उनकी अतृप्ति बढ़ती थी। लेकिन तुलसी नारी रूप के ही कवि नहीं हैं। वे उसकी पराधीनता, उसकी व्यथा के भी कवि हैं। यह उनकी महत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण है। पार्वती के बिदा होते समय मैना—

"करेहु सदा शंकर पद पूजा। नारि धरम पति देउ न दूजा ।।
बचन कहत भरे लोचन बारी। बहुरि लाइ उर लीन्ह कुमारी ।।
कत बिधि सृजीं नारी जगमाहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं ।।"

एक तरफ पति की पद पूजा, नारी का सबसे बड़ा धर्म; दूसरी तरफ इस बात पर क्षोभ कि "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं"! इससे बड़ा व्यंग्य मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं है।

लेकिन भारतीय नारी की समस्त वेदना जिस पात्र में तुलसी ने निःसंकोच उड़ेल दी है, वह है कौसल्या। भारतीय साहित्य में माता का वह चित्र अनुपम है। छिछली भावुकता के लिये यहाँ स्थान नहीं है। धैर्य ने शोक के आवेग को बाँध कर उसे गंभीर और महिमामय बना दिया है।

"सरल सुभाउ राम महतारी। बोली वचन धीर धरि भारी ।।
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरम क टीका ।।

राजु देन कहि दीन बनु, मोहि न सो दुख लेसु ।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहिं, प्रजहिं प्रचंड कलेसु ।।

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ।।
जौं पितुमातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना ।।"

माता भी नारी है। किसमें साहस है कि कौशल्या के लिये कहे—सहज अपावन नारि?

कौसल्या के चरित्र को उभारने के लिए तुलसी ने बड़े कौशल से उनके पास कैकेयी और मन्थरा को खड़ा कर दिया है, मानो यह याद दिलाने के लिये कि सारी कुटिलता पुरुषों के ही पल्ले नहीं पड़ी है, उसमें स्त्रियों का भी साझा है। इन कुटिल पात्रों के साथ शूर्पनखा का अद्भुत चित्र है, जिसे स्मरण कर के तुलसी को उतनी ही प्रसन्नता होती है, जितनी परशुराम को याद कर के! लेकिन जितना क्रोध उन्हें आमतौर से राक्षसों पर है उतना राक्षसियों पर नहीं। आमतौर से पति की तुलना में वे कवि की सहानुभूति चुरा ले जाती हैं—जैसे मन्दोदरी, सुलोचना और बालि के मुकाबले में तारा!

तुलसी ने वैरागियों का चित्रण भी किया है, जो संसार त्याग कर नारी को सहज अपावन कहने लगते हैं।

"नारि मुई गृह सम्पति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी।।

कहा जा सकता है कि यह दशा तो कलजुगहे संन्यासियों की है। तो मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र के संन्यासियों को ही ले लीजिये—

"बिन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनि वृन्द सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे।

शायद आप कहें, यह तो मज़ाक है? मजाक तो है ही, लेकिन किसका मजाक? उदासी तपस्वियों का जो नारी के बिना दुखी हैं और पत्थर की शिलाओं से चन्द्रमुखियों के प्रकट होने की आशा लगाये बैठे हैं।

रामायण में ढूँढ़िये उस पात्र को जो नारी-विमुख हो। शंकर ने काम को भस्म कर दिया था लेकिन वह भी शृंगार से परे नहीं हैं।

"जगत मातु पितु संभु भवानी । तेहि सिंगारु न कहौं बखानी ।"

लेकिन न बखानने से श्रृंगार भाव मिट थोड़े ही जाता है। शायद कोई दूसरा पात्र हो जिसने काम को जीत लिया हो! हाँ, वह पात्र है, नारद। सो नारद माया की राजकुमारी पर ऐसे रीझे कि विष्णु से रूप माँगने पहुँचे और वह रूप पाया कि—

"काहु न लखा सो चरित बिसेखा । सो सरूप नृप कन्या देखा ।।
मर्कट बदन भयंकर देही । देखत हृदय क्रोध भा तेही ।।"

यह दुर्दशा हुई महामुनि नारद की जो "सहज अपावन नारि" पर विजय पाने चले थे।

इस चमत्कार के बाद इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि तुलसी सहज मानव-धर्म किसे समझते थे—संसार छोड़ कर वैराग्य लेने को या समाज में रहते हुए गृहस्थ धर्म के निर्वाह को।

वर्ग-युक्त समाज में जो भी मानववादी कवि होंगे, उनमें असंगतियाँ रहना स्वाभाविक है। संसार के अन्य कवियों में भी हम ऐसी असंगतियाँ देखते हैं। लेकिन तुलसी की संस्कृति का मूलतत्त्व जाति-प्रथा, नारी की पराधीनता, भाग्यवाद और वैराग्य नहीं है। इसका मूलतत्त्व मानवीय सहानुभूति, पुरुषार्थ और जीवन के प्रति उत्साह है। यही कारण है कि तुलसी में इतना व्यंग्य और हास्य है जिसमें कोई भी मध्यकालीन कवि उनके मुकाबले में नहीं ठहरता, न करुणा, प्रेम और सहृदयता की गहराई में कोई उनका मुकाबला कर सकता है।

तुलसी की संस्कृति का मूल आधार मनुष्य का उत्पीड़न नहीं है। उसका मूल आधार ग्रामजनता की संस्कृति है जिसके सबसे सुन्दर रूपों को उन्होंने बालकांड और अयोध्या कांड में अमर कर दिया है।

तुलसी अपने समय की ग्राम संस्कृति के अन्धभक्त न थे। इस संस्कृति में जहाँ बहुत से सुन्दर तत्व थे, वहाँ बहुत से मानव-विरोधी और अत्यन्त हानिकर तत्व भी थे। जो लोग मध्यकालीन

भारत को एक सुनहला सपना बना देते हैं, उन्हें शिशु-बलि, सती-प्रथा, अघोरी-संप्रदाय, भूतों-प्रेतों की पूजा आदि का भी स्मरण रखना चाहिये। तुलसी के पहले नाथ-संप्रदाय का चमत्कार, अलख-पंथियों के अबूझ वाक्य, जोगियों और कलन्दरों के माया जाल की परम्परा भी ध्यान में रखनी चाहिए। तुलसी ने इसका तीव्र विरोध किया था। रामायण में माया से लोगों को परेशान करनेवाले पात्र राक्षस हैं। और प्रेत पूजा को उन्होंने इतना अधम ठहराया है कि भरत कह उठते हैं—

"जे परिहरि हरिहर चरन, भजहिं भूत गन घोर।
तिन्हकी गति मोहि देउ विधि, जौं जननी मत मोर॥"

अघोरियों के लिये लिखा है—

"असुभ वेष भूषन-धरें, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
ते जोगी, ते सिद्ध नर, पूजित कलिजुग माहिं"॥

तुलसी ने उन तमाम रिवाजों का विरोध किया है, जिन्होंने ग्रामीण जनता को इन जोगियों और अघोरियों का गुलाम बना दिया था। इसलिये तुलसी ही लिख सकते थे—बरदन्त की पंगति कुन्द कली, —नाथपंथी साधुओं के बस की यह बात नहीं थी।

१९ वीं सदी में जब अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने हिन्दुस्तान पर अपने पंजे गड़ाये तब उसने पुरानी बुराइयों की तो रक्षा की लेकिन जो अच्छाइयाँ थीं, उन्हें मिटाना शुरू किया। उसने यहाँ की सामन्ती व्यवस्था को सुरक्षित रखा और उस पर विदेशी पूंजी का जुआ और लाद दिया। इसीलिए जनता का जीवन दिन पर दिन दूभर होता गया। रहन-सहन की परिस्थितियाँ नित्य असह्य होती गईं। यह औपनिवेशिक व्यवस्था भारत में आज भी कायम है। साम्राज्यवाद ने तुलसी की करुणा और सहानुभूति के बदले विष बोये घृणा और संप्रदायवाद के। घृणा साम्राज्यवाद और सामंतशाही से नहीं बल्कि आपस में एक दूसरे के धर्म से, एक दूसरे की संस्कृति से। इस तरह की घृणा का कोई चिह्न भी तुलसी में नहीं मिलता। तुलसी

जीवन में तटस्थ नहीं हैं लेकिन उनका क्रोध है उन लोगों पर जो समाज को पीछे ढकेलना चाहते हैं, जो तुलसी का सन्देश सुनने सुनाने में व्यर्थ का अड़ंगा लगाते हैं।

तुलसी जयन्ती के अवसर पर जब मैं भूखी स्त्रियों पर आँसू गैस छोड़े जाने के समाचार पढ़ता हूँ, कोरिया में स्त्रियों-बच्चों को बमबाजी से तबाह होते सुनता हूँ, तो यह कहे बिना नहीं रह सकता कि आज साम्राज्यवाद और उसके देशी समर्थक हमारी तमाम सांस्कृतिक परम्परा के शत्रु हो गये हैं। युद्ध और दमन इनके अस्त्र हैं। इनके हृदय में घुँघरारी लटों व शैशव के मीठे बोलों से अब गुदगुदी नहीं होती। इन पर तुलसी के ये वाक्य पूरी तरह सार्थक होते हैं—

"नर ते खर सूकर स्वान समान कहो जग में फल कौन जिये।"

दरअसल इनके जीने से कोई फल नहीं है और ये जीते हुए मरे हुए हैं। इतिहास ने साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक व्यवस्था को मृत घोषित कर दिया है। इनसे न जनता की रोटी-रोजी की समस्या हल होती है न उनकी संस्कृति की रक्षा होती है। मरण काल में अपनी सड़ाँध से बीमारी फैलाते हुए युद्ध और दमन, भुखमरी और महँगाई की लपेट में ये अपने साथ लाखों और इन्सानों को भी समेट लेना चाहते हैं।

तुलसी की संस्कृति की उतराधिकारी भारत की जनता जीवन की परम्परा को लेकर आगे बढ़ती है। वह एटमबम और कोरिया में विध्वंस की मृत परम्परा का विरोध करती है। हम जीवन और मृत्यु के संघर्ष में तटस्थ नहीं हैं। हमें याद है—"दैव दैव आलसी पुकारा।" हम मृत्यु की परम्परा खत्म करेंगे और देश में सुखी जीवन का निर्माण करेंगे जिसमें 'बरदन्त की पंगति कुन्द कली' को किसी अमरीकी बम का खतरा न हो, जिसमें घुँघरारी लटैं किसी आततायी की गोली खाकर खून में न सन जायँ और जिसमें शैशव के बोल अन्न और दूध के अभाव में अकाल ही न मौन हो जायँ।

तुलसी ने सुखी जीवन से प्रेम करना ही हमें नहीं सिखाया, उसके लिये संघर्ष करना और कष्ट सहना भी सिखाया है। हम उनके इस वाक्य को याद रखेंगे--

"देव दनुज भूपति भट नाना। सबल अधिक होऊ बलवाना।
जौं रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ।।"

—जुलाई, १९५०

११

* *

निराला का ऐतिहासिक महत्त्व

बीसवीं सदी में हिन्दी भाषी जनता ने तीन महान साहित्यिक विभूतियों को जन्म दिया—कथा-साहित्य में प्रेमचन्द, आलोचना में रामचंद्र शुक्ल और कविता में सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला। ये तीनों विभूतियाँ एक दूसरे की पूरक हैं।

प्रेमचंद ने भारतीय जनता के स्वाधीनता-संग्राम को अपने महान् उपन्यासों में चित्रित किया। उन्होंने इस संग्राम में जनता के विराट भाग—किसानों—का उचित स्थान दिखाया। ब्रिटिश राज का आतंक, कानून और पुलिस के फन्दे, जनता की दृढ़ता, साथ ही जन-आन्दोलन की भीतरी कमजोरियों—संगठन का अभाव, नेताओं की दुरंगी चाल (कर्मभूमि का अमरकान्त, कायाकल्प के चक्रधर, गोदान का रायसाहब आदि)—का भरापूरा चित्रण किया। उन्होंने सड़े-गले सामन्ती ढाँचे में नारी का उत्पीड़न, अछूतों का अपमान, महाजनों-पुजारियों के अत्याचार का मार्मिक वर्णन करके जनता की चेतना को निखारा, उसकी संस्कृति को विकास की नई दिशा दी।

आचार्य शुक्ल ने लोकमंगल की भावना के आधार पर काव्य-शास्त्र के पुराने मानदंडों को परखा। रीतिकालीन कवियों का असली रूप उन्होंने हमारे सामने रखा। तुलसीदास और दूसरे भक्तों, सन्तों और प्रेममार्गी कवियों की प्रगतिशील भूमिका उन्होंने स्पष्ट की। संसार से भागकर अनन्त की शरण लेने का उन्होंने विरोध किया। इस तरह शुक्ल जी ने आलोचना द्वारा सामन्ती संस्कृति के जीर्ण संस्कारों को निर्मूल किया और नये साहित्य द्वारा लोक-कल्याण के लिये मार्ग प्रशस्त किया। शुक्ल जी ने साहित्य की जातीयता--हिन्दी साहित्य की जातीय विशेषताओं--को पहचाना और उनकी रक्षा करने और उन्हें विकसित करने पर ज़ोर दिया।

निराला ने सन् १६ से लिखना शुरू किया। उसने गद्य और पद्य के अस्त्रों को एक साथ ही संभाला। हिंदी की जातीय परम्परा की रक्षा और विकास का काम निराला ने अपने ढंग से किया। उसने दरबारी कवियों और समस्यापूर्ति की चाल पर कविता रचने वालों का सक्रिय विरोध किया। अपनी तीखी आलोचना और ओजपूर्ण काव्य-पाठ से उसने नवशिक्षित वर्ग की रुचि में भारी परिवर्तन किया। उसने तुलसीदास पर अपनी अमरकृति से सिद्ध कर दिया कि हिन्दी का नया साहित्य भक्त कवियों की जनवादी संस्कृति को अपने में समेट कर आगे बढ़ रहा है।

यही नहीं, निराला आरम्भ से हिन्दी भाषा और साहित्य के मान-सम्मान का रक्षक बनकर आया। उसने हिन्दी की सम्मान-रक्षा अनेक बंगला साहित्यकारों के सामने की, कांग्रेसी नेताओं के सामने की और हिन्दी के ही धुरंधरों से की। जब हिन्दी के कुछ अर्द्धशिक्षित कवियों ने हिन्दी शब्दों, हिन्दी छन्दों और प्राचीन हिन्दी कवियों पर कीचड़ उछाला और अंग्रेज़ी शब्द-चमत्कार के गीत गाये, तब निराला ने इन कविपुंगवों से लोहा लिया और हिन्दी की गौरव-रक्षा की। इसके लिए उसे सब तरफ़ से प्रतिक्रियावादियों के प्रहार

सहने पड़े, जिनका वर्णन प्रत्यक्ष रूप से "सरोज स्मृति" में है और अप्रत्यक्ष रूप से "राम की पूजा" में।

निराला ने अपने ही जीवन में कष्ट और अभाव नहीं देखे, उसने दूसरों के जीवन में भी उन्हें देखा है। दूसरों के कष्ट और अभाव देखकर वह अपने कष्ट और अभाव भूल गया है। निराला का विशाल हृदय करुणा का सागर है। उसकी मर्मवाणी का यही रहस्य है। वह भारतीय जनता के दुखी जीवन का सर्वश्रेष्ठ आधुनिक कवि है। आज भी उसके जर्जर तन से अजेय मन यही कहता है—

"मां! अपने आलोक निखारो!
नर को नरक त्रास से वारो!"

इसी जीवन में नर के नरक त्रास को किसी ने इतने निकट से नहीं देखा जितने निकट से निराला ने।

निराला का हृदय करुणा का अथाह सागर ही नहीं है, उस सागर में अपमान की अमिट ज्वाला भी जलती है। वह कहता है—

"लाञ्छना इन्धन हृदयतल जले अनल।"

लाञ्छना की अग्नि उसके हृदय में बराबर सुलगती रहती है और उसे निरंतर संघर्ष के लिए प्रेरणा देती रही है। निराला की यह विशेषता हमें 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' के तुलसीदास की याद दिलाती है, जिन्हें अपमान की स्मृति ने अद्भुत ओज और अनुपम वाणी दी।

निराला संघर्ष का कवि है। वह हिन्दी का वीर कवि है। आरम्भ से ही जब उसने ललकारा था।

मेरा अन्तर वज्र कठोर
देना जीभर सक झकझोर :—

यह स्पष्ट हो गया था, यह वीर भावना का अनूठा गायक है। निराला का उन्नत शिर कभी झुका नहीं। अभावों में पीड़ित अपनी एकमात्र कन्या खोने के बाद भी अपने पिछले जीवन को याद करते हुए उसने बिना ग्लानि के लिखा था—

खंडित करने को भाग्य अंक
देखा भविष्य के प्रति अशंक !

निराला सौंदर्य का प्रेमी रहा है। चाँदनी रात में उस ने जुही और शेफाली के साथ सपने देखे, 'अप्सरा' और 'प्रभावती' में नृत्य, संगीत और सौन्दर्य का समन्वय दिखाया। लेकिन इस से उसे सन्तोष नहीं हुआ।

सन् '३० के बाद जिस समय प्रसाद 'तितली' लिख रहे थे प्रेमचन्द 'कर्मभूमि' रच रहे थे, निराला ने नये यथार्थवाद की तरफ़ कदम उठाये। उस ने पहले महायुद्ध के बाद अंग्रेजी राज में इन्फ्लुएंजा से मरे हुए किसानों से गङ्गा को पट जाते देखा था। 'अलका' और 'निरुपमा' में वह गाँवों की तरफ़ बढ़ा। उस के 'चतुरी चमार' और 'देवी' जैसे स्केच गद्य लिखने की कला में एक नया विकास था। 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'कुल्ली भाट' आदि में उसने प्रेमचन्द के यथार्थवाद को और आगे बढ़ाया। समाज के धार्मिक ढोंगियों और राजनैतिक दम्भियों का उसने निर्ममता से पर्दाफ़ाश किया। निराला ने दिखा दिया कि वह जितना सफल कवि है उतना ही सफल गद्यकार भी है।

निराला कवि, आलोचक और कथाकार तीनों है। तीनों क्षेत्रों में उस की प्रतिभा ने चमत्कार दिखाया है। कविता में उस ने मात्रिक और वर्णिक मुक्त छन्द लिखे, गीतों के साथ नाटकीय कथायें लिखीं। उस ने अपनी चित्रमयता और भाषा के ओजस्वी प्रवाह से सभी को मुग्ध कर दिया। उसने आलोचना को कला का रूप दिया, व्यंग्य का अस्त्र लेकर उसने 'कला के विरह में जोशीबन्धु', 'पंतजी और पल्लव', 'मेरे गीत और कला' जैसे उत्कृष्ट निबन्धों की रचना की। उस ने छायावादी उपन्यासों का ही श्रीगणेश नहीं किया, उनके आगे बढ़कर प्रेमचन्द और प्रसाद के साथ उस ने नये यथार्थवाद की भी प्रतिष्ठा की जिसका ध्येय साधारण जनों की असाधारणता चित्रित करना था।

निराला की सांस्कृतिक चेतना बहुत ही प्रखर रही है। उसी ने सन् '१६–२० के ब्रिटिश आतंक से परास्त न होकर आतंक की कमज़ोरी दिखाते हुए विप्लवी वीर से किसान की तरफ़ देखने को कहा था। सन् '१७ में जिस महान जनक्रांति ने विश्व पूंजीवाद की जड़ें हिला दी थीं, उस की प्रतिध्वनि निराला के 'बादल' राग में सुनाई दी थी—

अङ्गना अङ्ग से लिपटे भी, आतंक अंक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल ! त्रस्त नयन मुख ढांप रहे हैं !

निराला को यह सम्मान प्राप्त है कि जैसा संगठित और अन्ध-बधिर विरोध उसका हुआ, वैसा हिन्दी में किसी का नहीं हुआ। लेकिन निराला ने इस विरोध पर जय पाई। आज हिन्दी की तरुण पीढ़ी निराला को प्राणों से भी ज्यादा प्यार करती है। निराला के विरोधी परास्त होकर चुप हैं या उसे निष्क्रिय देवता का रूप देकर उस पर फूल चढ़ाते हैं। लेकिन निराला का तमाम साहित्य उस की सच्ची कहानी कहता है, यह कहानी साहित्य में नये और पुराने विचारों के टक्कर की कहानी है, एक निडर, अदम्य और आत्म-विश्वासी व्यक्तित्व की कहानी है।

निराला हिन्दी की जातीय निधि है वह हिन्दी और बंगला साहित्यकारों की मैत्री के लिए प्रकाशस्तंभ है। इस तरह वह इस महादेश की जातीय एकता का भी कवि है। उसकी प्रेरणा का स्रोत हमारे देश की जनता है और जिस जनता ने निराला को जन्म दिया है, वह ज्यादा दिन तक दुख और गुलामी में दिन नहीं काट सकती।

—१६५३

१२

* *

ग्राम कवि पढ़ीस का संग्रह : चकल्लस

अँगरेज़-कवि वर्ड्स्वर्थ कृत Lyrical Ballads की भमिका में प्रतिपादित सिद्धांतों की सत्यता की परख करना हो, तो एक बार सीतापुरी अवधी के कवि श्री पं० बलभद्र दीक्षित कृत चकल्लस को पढ़िए। गाँवों में रहनेवाले साधारण गँवारों की भाषा में भी असाधारण भावों को लेकर उच्च श्रेणी की कविता हो सकती है, इस सिद्धांत का कोलरिज से लेकर सेंट्सबरी तक अनेक विद्वानों ने खूब मख़ौल उड़ाया है। एक बात अब निर्विवाद मानी जाती है कि स्वयं वर्ड्स्वर्थ अपने सिद्धांतों की सार्थकता अपनी कविता में सिद्ध नहीं कर सके। इसका कारण सिद्धांत से अधिक कवि की ही असमर्थता थी। वर्डस्वर्थ से पूर्व ही स्काटलैंड का कवि Burns अपनी Dialect में सुन्दर गीत व कविताएँ लिख चुका था। गाँवों में रहनेवाला अपने मनोभावों को वहीं की भाषा में व्यक्त करना पसंद करता है। उस का शब्द-भण्डार कितना

ढंग से व्यक्त कर सकता है। नक़ली साहित्यिकों की भाँति वह बड़ी-बड़ी पोथियों में से शब्द-चयन नहीं करता; उस के प्रयुक्त शब्दों का उस के जीवन से घनिष्ठ संबंध होता है तथा वे उसके भावों के सब से स्पष्ट प्रतीक होते हैं। तात्पर्य यह कि गाँव का रहनेवाला अपने भावों को अपनी देहाती भाषा में सुचारु रूप से प्रकट कर सकता है। यही नहीं, प्रतिभा होने पर उसकी कृतियाँ साहित्यिक कहलानेवाली मार्जित भाषाओं में की गई कविताओं से टक्कर ले सकती हैं।

चकल्लस पढ़ने पर कवि के ग्रामीण अनुभवों की व्यापकता का पता चलता है। ग्रामीण जीवन को उस ने प्रायः सभी संभव दृष्टि-कोणों से देखा है। अपने भाइयों के सुख-दुःख, हास-परिहास, उनकी अच्छाइयाँ-बुराइयाँ, सभी से वह भलीभाँति परिचित है, तटस्थ रहकर नहीं, वरन् सहानुभति के साथ। उसका स्वर साधारण ग्रामीणों का स्वर है। पग-पग पर विचारों की स्वाभाविकता मुग्ध कर देती है। भाषा पर भी कवि का पूर्ण अधिकार है। हिंदी-उर्दू के छंद, तुकांत-अतुकांत, लिखने में उस ने समान सफलता पाई है।

चकल्लस में प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन अनेक स्थलों पर ख़ूब बन पड़े हैं। उन की विशेषता कवि के सूक्ष्म निरीक्षण में है। पूर्व में सबेरा हो रहा है, चिड़ियाँ चहक रही हैं, घास काटने के लिए घसियारिन जंगल की ओर चली जा रही है। नित्य प्रति के प्रभात-वर्णनों से देखिए, निम्नलिखित वर्णन कितना भिन्न है, तथा अपनी स्वाभाविकता से आपको कितना आकर्षित करती है—

"लोही लागयि पउ फाटि रही कस सुन्दर-सुन्दर !
च्यहँकि चिरय्या, ठाकुरजी धुनि
भुजकइटा गुन गाइ रहे।
वह चली जाइ पंछिन ते—
बिहँसति, बिलसति, ब्वालति
खरपा अउरु गँड़ासा बनदेबी—

कर सोभा नायि रहे,
घसियारिन घासयि जायि रही।"

इसी भाँति वर्षा के आरंभ में किसी दिशा में एक बादल का उठना, धीरे-धीरे औरों का और फिर इसी तरह उन का सारे आकाश को ढक लेना, नीचे की पंक्तियों में कितनी सचाई व सरलता से कहा गया है—

"उत्तर दिसा ति बादर का एकु उठा फीहा,
दुइ चारि अउर आये, दस-बीस अरे ह्वगे !
तनिकिहे देर पाछे परबत के अस कँगूरा
चारिउ अलँग ति बढ़ि-बढ़ि अग्गास माँ उरेहे।"

चकल्लस के कवि में हास्यप्रियता पर्याप्त मात्रा में है। उस की पैनी दृष्टि से किसी भी घटना, दृश्य या उक्ति का परिहास-जनक पहलू छिपने नहीं पाता। वास्तव में इस पुस्तक की सबसे बड़ी खूबी यही है। शहरों से डोलती हुई पाश्चात्य सभ्यता की हवा गाँवों में भी लगी; कवि को मधुर चुटकियाँ लेने का अवसर मिला। किन्हीं महाशय ने नये नोखे एक साइकिल खरीदी है। अपनी "पैर-गाड़ी" पर उन का गुमान देखते ही बनता है—

"साह्यब, रहयि सलामति यह मोरि पैर-गाड़ी,
दुनिया ति हयि अजूबा यह मोरि पैर-गाड़ी।"

सब लोग मेला देखने गये थे; किसी के बैलों ने गाड़ी खींचने से जवाब दे दिया, तो किसी का घोड़ा गिर गया। उस समय उन की पैर-गाड़ी ही सही सलामती से उन्हें घर लाई—

"बड़के की गाड़ी के जब बर्ध झ्वाँक डारिनि,
छोटकऊ क्यार घ्वाड़ा लइ ठ्याक ठप्प ह्वयिगा।
तब यह छिनुमंतुरु माँ मँहिका घर का लाई।
दुनिया ति हयि अजूबा यह मोरि पैर-गाड़ी।"

पाश्चात्य सभ्यता और उससे प्रभावित पुरुषों पर कवि ने एक पक्के ग्रामीण की भाँति सुन्दर व्यंग्य किये हैं। किसी के एम० ए० पास करने पर—

"सबि पट्टी बिकी असट्टयि माँ,
लरिकउनू ए० मे० पास किहिनि।
पुरिखन का पानी खुबयि मिला,
लरिकउनू ए० मे० पास किहिनि।"

इसी भाँति अंग्रेज़ी पढ़ी पत्नी का चित्र—

"वाँठन माँ लाली मुंहि माँ पौडर मुलु देहीं हयि पियरि-पियरि।
ब्वालयि माँ ड्वालयि डगरमगर दुलहिनि अँगरेजी बूँकि चलीं।"

ग्रामीण जीवन से जिनका यत्किंचित् भी संबंध रहा है, वे भलीभाँति समझ सकते हैं कि इस प्रकार की आलोचना किसी ग्रामीण के लिए कितनी स्वाभाविक है। यह परिहास एकांगी नहीं; अपनी प्राचीन भारतीय कहलानेवाली सभ्यता पर भी कवि ने छींटेबाज़ी की है। बाग में डिप्टी साहब का डेरा पड़ा है; कवि का नायक "कारचोबी का अँगरखा," "जामदानी का दुपट्टा" आदि पहन कर घोड़े पर चढ़कर उनसे मिलने जाता है। अब देखिये, अपनी सभ्यता की रक्षा वह किस प्रकार करता है—

"बात की बात माँ तंबुन कि तरे ठाढ़ भयन;
साह्यब सलाम किहिनि हम मुलउ जुहार किह्यन।"

एक ग्रामीण का दृष्टिकोण होते हुए भी वह अत्यंत संकुचित नहीं, काफ़ी उदार है। समाज में प्रचलित बुराइयों को वह अपनी व्यंग्योक्तियों का लक्ष्य बनाये बिना नहीं छोड़ता। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में वृद्ध-विवाह, दहेज़ आदि पर—

"चउथेपन चउथ बियाह के
बिहकरा बइठ घर का घेरे,
चउथे दिन चउथी चालु चलीं,
हम कनउजिया बाँभन आहिन!
लरिकऊ चरावयिं हरहा, बिनुआ-
कंडा बीनयिं माँ बड़े चतुर,

दायिज के लाग्रो दुइ हजार,
हम कनउजिया बाँभन ग्राहिन।"

कवि की दुःखोक्तियाँ इतनी गंभीर तथा उस के ग्रहं से इतना खाली हैं कि उसके सभी भाई उस के साथ स्वर मिला सकते हैं। नदी में बूड़ा ग्राया है, बाँसों पानी बढ़ रहा है, कवि ग्रपनी "मड़य्या के रखवार" राम को पुकारता है—

"तीखि धार ते कटयि कगारा,
धरती धँसयि पताल।
लखि लखि बिधिना की हम लीला,
रोयी हाल ब्यहाल।
मड़य्या के रखवार हमार राम!"

चकल्लस की शायद सबसे सुन्दर कविता "तुलसीदास" है। इस की भाषा ग्रत्यंत मार्जित है, तनिक भी ग्रसाहित्यिक नहीं लगती। ग्रवधी बोलनेवालों में रामायण के प्रति जो प्रेम है, उसे यहाँ ग्रत्यंत सुन्दर ग्रभिव्यक्ति (Expression) मिली है। ये पक्तियाँ कवि की सफलता का एक उत्कृष्ट नमूना हैं—

"कबि ग्राहिन तुलसीदास,
रमय्या राम के।
तुम सुंदर सीता राम,
सलोने नाम के।
सुर-गंगा जस बहयि कल्पना
भाउ भवँर की धार,
डारि दिह्यन कविता की डोंगिया
राम लगावयिं पार।
रमय्या राम के।

दस दुग्रार सुंदर मनि-मंदिरु
कनक-चउतरा माँझ—
सीता सहित रामजी राजयिं—

जहाँ न दुपहर साँझ।
रमय्या राम के।"

ऐसी पंक्तियों को पढ़कर यह कल्पना करना कठिन हो जाता है कि इन्हीं शब्दों को छोड़ कर ये भाव किसी दूसरी भाषा में भी प्रकट किये जा सकते हैं। चकल्लस की कविताएँ कवि के जीवन के नैसर्गिक रूप में फूट निकली हैं। ग्रामीण वन, प्रकृति, मनुष्य, व्यवहार, सभ्यता से घिरे रहने पर कवि के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने किंवा अपने भाइयों के भावों को उन्हीं की भाषा में अत्यंत स्वाभाविक ढंग से व्यक्त करता। इन कविताओं में जो प्राण हैं, उनमें किसी सहृदय को अपनी ओर आकर्षित करने की जो शक्ति है, वह इसी भाषा और भावों की स्वाभाविकता के कारण। अपने ढंग की यह निराली पुस्तक निस्सन्देह हमारे साहित्य की एक स्थायी संपत्ति होगी।

—जुलाई १९३५।

१३

* *

निराला जी के गद्य में व्यंग्य और परिहास

गद्य की कविता उस का व्यंग्य और परिहास हैं। दूसरी प्रकार की कविता के लिये हम पद्य पढ़ते हैं, परन्तु गद्य की सजीवता हम उसके हास्य और व्यंग्य में देखना चाहते हैं। वैसे तो पद्य में भी व्यंग्य और हास्य लिखा गया है। पुराने ज़माने में जब वैद्यक के ग्रन्थ पद्य में लिखे जाते थे, तब ऐसा होना स्वाभाविक था। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों गद्य का क्षेत्र विकसित होता गया, व्यंग्य और हास्य उस की अपनी वस्तु बन गये, कैसा भी सुन्दर साहित्य हो, उस का लिखना सरल नहीं। उसी भाँति सफलतापूर्वक शिष्ट व्यंग्य और हास्य से पूर्ण गद्य लिखना आसान नहीं। बहुधा लेखक दूसरों को हँसाने की चेष्टा में स्वयं हास्यास्पद हो जाता है, उस के इशारे पर हम हँस उठें, इस के लिये उसमें सहृदयता चाहिये। मनुष्य-धर्म के प्रतिकूल वह कुछ कह हँसाने की चेष्टा करेगा तो हम उलटा उस से घृणा करने लगेंगे। सफल लेखक चाहे, तो वह व्यंग्य द्वारा हमें हमारी कमजोरियों का ज्ञान करा सकता है। तीखे व्यंग्य के साथ

यदि हास्य की भी उचित मात्रा हो तो पाठक पर विशेष प्रभाव पड़ेगा। व्यंग्य मधुर हो सकता है, जिस पर किया जाय, वह भी एक बार खिल उठे। अन्त में शिष्टता का ध्यान रखना सब से अधिक आवश्यक है; असाधारण बात कह कर हँसाना ज्यादा आसान है, साधारण बातों में हास्य की सामग्री खोज निकालना किसी कलाकार का काम है। निराला जी ने केवल व्यंग्य और हास्य को प्रधानता देकर कोई पुस्तक नहीं लिखी; परन्तु वह उन के गद्य में सर्वत्र न्यूनाधिक मात्रा में मिलता है। क्या कहानियाँ, क्या उपन्यास, क्या निबन्ध, सब कहीं व्यंग्य और हास्य का आनन्द आप को मिलेगा। कहीं व्यंग्य तीव्र होता है, कहीं साधारण। कभी उस का लक्ष्य समाज पर होता है कभी व्यक्तियों पर। परन्तु व्यक्तियों पर बहुत कम होता है, और होता है तो प्रच्छन्न ढङ्ग से। अधिकतर सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक विचारों आदि पर होता है। और भी सुन्दर स्थल वे हैं, जहाँ हमें जीवन की छोटी-छोटी बातों में परिहास दिखाया जाता है; भोले-भाले मनुष्यों की सहज अज्ञताओं पर हम निर्दोष हँसी हँसते हैं।

साहित्यिक होने के कारण स्वाभाविक था कि निराला जी साथी साहित्यिकों पर और प्रचलित साहित्यिक विचारधाराओं पर व्यंग्य करते, जो हिन्दी की हित-चिन्ता में व्यस्त हैं, परन्तु उनके कृत्यों से वास्तव में हिन्दी का हित होता या अहित, इसका ज्ञान नहीं रखते। उन पर "प्रबन्ध पद्म" की "एक बात" में किया गया व्यंग्य देखिये—

"हिन्दी की हितैषणा की गाँठ में गठिए का असर उस के सेवकों के तर दिमाग़ के कारण बढ़ता ही जा रहा है।" इस वाक्य से आरम्भ होनेवाला सारा पैराग्राफ व्यंग्य का सुन्दर नमूना है। ऐसे ही "पन्त जी और पल्लव" में निम्न वाक्यों से आरम्भ होने वाला पैराग्राफ है।

"कार्यवशात् मुझे कलकत्ता आना पड़ा। रास्ते में गाड़ी काशी के स्टेशन पर पहुँची, साहित्यिक मित्रों की याद आई। साहित्य की

मही वीर-विहीन हो रही है, या कोई महावीर इस समय भी प्रहरण-कौशल प्रदर्शन कर रहे हैं, कुछ मालूम न था; कौतूहल बढ़ा, मैं गाड़ी से उतर पड़ा।"

हिन्दी में लेखकों तथा प्रकाशकों और सम्पादकों का पारस्परिक सम्बन्ध छिपा नहीं है। निराला जी की सहानुभूति लेखकों की ओर है। प्रकाशकों की बातचीत उनकी "सफलता" कहानी में पढ़िये—

"'आरती' के प्रकाशक ने कहा, हमारे यहाँ ८) फ़ार्म से अधिक मौलिक पुस्तक के लिये देने का नियम नहीं, रुपया पुस्तक प्रकाशित होने के तीन महीने बाद से दिया जाना शुरू होता है। सम्पादक ने कहा, हम कोई लेख बिना पुरस्कार का नहीं छापते, अवश्य नए लेखकों को २) ही प्रति लेख देने का नियम है, पर आपको हम १॥) पृष्ठ देंगे। फिर बड़ी सहृदयता से बोले, इस से अधिक 'आरती' दे नहीं सकती।"

इस उदाहरण से लेखक की दृष्टि की सतर्कता भली भाँति जानी जाती है। दूसरों के व्यवहार में उनकी थोड़ी सी भी भाव-भङ्गी इससे नहीं चूकने पाती। सम्पादक की जैसी सहृदयता का यहाँ उल्लेख है, उसका बहुतों को अनुभव होगा। व्यंग्य के साथ हास्य का पुट है; तारीफ़ इस बात की है कि वह छिपा हुआ है। बातें सम्पादक करता है, परन्तु उसके व्यवहार में जो असहृदयता और दम्भ है, वह जैसे समझता हो कि उसे दूसरे जानेंगे नहीं; हास्य का यही कारण होता है।

कलाकार मौक़ा पड़ने पर अपने व्यक्तिगत विचारों का भी मज़ाक उड़ाने से नहीं चूकता। निराला जी के पात्र प्रचलित रहस्यवाद के परिहास से लाभ उठाते हैं। जो समझा न जाय वह छायावाद या रहस्यवाद, यही बात नीचे "सखी" कहानी की लड़कियाँ कहती हैं।

"बात क्या है?"—अनजान की तरह देखते हुए लीला ने पूछा।

"पूरा रहस्यवाद उर्फ़ छायावाद।" निर्मला ने कहा।

"वाद-विवाद में देर हो रही है। प्रकाशवाद यह है..." इत्यादि।

और "लिली" कहानी-संग्रह के "प्रेमिका-परिचय" में लेखक के ही मुंह से—

"ख़ास बात यह कि क्लास की छात्राओं से, निषेध की ऊँची चारदीवारी छायावादी ढङ्ग से अनायास पार कर, प्रायः मौनालाप किया करते हैं।"

पुराने विचार के लोगों का चित्रण निराला जी ने मार्मिकता से किया है। 'प्रेमिका परिचय' का शङ्कर "ब्राह्मण का लड़का है, अङ्गरेज़ी पढ़ता हुआ भी पीढ़ियों के संस्कारों की पूरी रक्षा करने वाला।...सुयोग्य पुत्र पिता की ही तरह धर्म की रक्षा में जितना पटु है, ख़र्च में उतना ही कटु है। पीछे पूंछ सी मोटी चोटी, कई पेंच के बाद बाँधने में एक कौशल, खोलने में बाल बल खाते हुए। कहता है, 'इलेक्ट्रिसिटी शरीर में रिज़र्व करने का, सबसे पहले यह आर्यों का निकाला हुआ, तरीक़ा है।"

देहातों में भक्ति से ईश्वर और स्वर्ग पाने के साथ धन पाने की आशा करनेवालों की कमी नहीं; "अर्थ" कहानी का प्रेमकुमार इस का एक उदाहरण है। जब पत्नी ने कहा कि घर में ख़र्च को पैसे बिलकुल नहीं रहे तो भक्त ने भक्ति से धन कमाने की युक्ति का प्रयोग किया। "जैसा उसने पढ़ रक्खा था कि, भरत जी का नाम जपने पर अर्थ होता है, शाम होने पर एक कोठरी में बैठ कर भरतजी का नाम जपने लगा। रात ग्यारह बजे तक पाँच हज़ार जप पूरा कर, वहीं एक चुटके में यह लिखकर कि 'मेरे इस जप की जो मज़दूरी होती हो, यहीं अँगोछे पर रख दीजिये', उठ कर पत्नी के पास आया। उधर विद्या भी चूल्हे के पास भोजन तैयार कर बैठी हुई पति के लिये तपस्या कर रही थी। गम्भीर भाव से भोजन कर रामकुमार बाहर आया, तब विद्या ने भी भोजन किया।

मारे डर के उसने कारण न पूछा। प्रेम से उच्छ्वासित हो, गम्भीर भाव से, पलङ्ग पर पड़े-पड़े पति ने स्वयं पत्नी से अपने अर्थोपगम का मन्त्र बतलाया। विद्या मुँह फेर कर हँसने लगी।"

पुराने रूढ़िवादियों में ऐसी सिधाई सर्वत्र नहीं; जहाँ वे गुट-बन्दी कर विकासवादियों का विरोध करते हैं, वहाँ व्यंग्य उत्तेजित और कठोर हो जाता है। इन के लिये लेखक के पास सहानुभूति नहीं, "शठे शाठ्यं" है। "सफलता" कहानी में नरेंद्र आभा को सिखाता है—"सामने आकर काटना देशी कुत्ते नहीं जानते। मैं मुँह पर विलायती ठोकरें लगाना सीख चुका हूँ, तुम्हें भी सिखाना चाहता हूँ।" और भी खुले रूप में "चतुरी चमार" में— "उन दिनों भाग्यवश मिले हुए अपने आवारागर्द नौकर से बीड़ी लेकर, सबके सामने दियासलाई लगा कर मैंने समझा दिया कि तुम्हारा इस जूठे धुएँ से बढ़ कर मेरे पास दूसरा महत्त्व नहीं।"

व्यंग्य के विचार से निराला जी की 'देवी' कहानी उनकी श्रेष्ठ कृति है। यह पहले सुधा में प्रकाशित हुई थी; अक्टूबर १९३५ में। आर्यनगर, लखनऊ के सरस्वती-पुस्तक भण्डार से प्रकाशित उनके कहानी-संग्रह "सखी" में यह पढ़ी जा सकती है। यहाँ हम रहस्य-वादी कवि श्री निराला की प्रतिभा का एक दूसरा पहलू देखते हैं। कल्पना-लोक के आदर्श के साथ एक बार जब वे यथार्थ संसार को देखने लगते हैं तो आदर्शवादी भावनाओं को कठोर धक्का लगता है। मनुष्य अभी उस आदर्श से कितनी दूर है; क्रम से देश के प्रचलित राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक विचार लेखक के व्यंग्य का लक्ष्य होते हैं। समाज, देश, संसार—सन्तोषजनक दशा कहीं नहीं है; फिर भी लोग अपनी क्षुद्रता को महत्ता समझ उस पर सन्तोष ही नहीं किये, गर्व का भी अनुभव किये बैठे हैं। ऐसा शिष्ट व्यंग्य, सच्ची अन्तर्व्यथा से निकला हुआ, जो पढ़ते ही सहृदय को प्रभावित कर सके, साहित्य में बहुत कम देखने को मिलता है।

"पूरा रहस्यवाद उर्फ़ छायावाद।" निर्मला ने कहा।

"वाद-विवाद में देर हो रही है। प्रकाशवाद यह है..." इत्यादि।

और "लिली" कहानी-संग्रह के "प्रेमिका-परिचय" में लेखक के ही मुंह से—

"ख़ास बात यह कि क्लास की छात्राओं से, निषेध की ऊँची चारदीवारी छायावादी ढङ्ग से अनायास पार कर, प्रायः मौनालाप किया करते हैं।"

पुराने विचार के लोगों का चित्रण निराला जी ने मार्मिकता से किया है। 'प्रेमिका परिचय' का शङ्कर "ब्राह्मण का लड़का है, अङ्गरेज़ी पढ़ता हुआ भी पीढ़ियों के संस्कारों की पूरी रक्षा करने वाला।...सुयोग्य पुत्र पिता की ही तरह धर्म की रक्षा में जितना पटु है, ख़र्च में उतना ही कटु है। पीछे पूंछ सी मोटी चोटी, कई पेंच के बाद बाँधने में एक कौशल, खोलने में बाल बल खाते हुए। कहता है, 'इलेक्ट्रिसिटी शरीर में रिज़र्व करने का, सबसे पहले यह आर्यों का निकाला हुआ, तरीक़ा है।"

देहातों में भक्ति से ईश्वर और स्वर्ग पाने के साथ धन पाने की आशा करनेवालों की कमी नहीं; "अर्थ" कहानी का प्रेमकुमार इस का एक उदाहरण है। जब पत्नी ने कहा कि घर में ख़र्च को पैसे बिलकुल नहीं रहे तो भक्त ने भक्ति से धन कमाने की युक्ति का प्रयोग किया। "जैसा उसने पढ़ रक्खा था कि, भरत जी का नाम जपने पर अर्थ होता है, शाम होने पर एक कोठरी में बैठ कर भरतजी का नाम जपने लगा। रात ग्यारह बजे तक पाँच हज़ार जप पूरा कर, वहीं एक चुटके में यह लिखकर कि 'मेरे इस जप की जो मज़दूरी होती हो, यहीं अँगोछे पर रख दीजिये', उठ कर पत्नी के पास आया। उधर विद्या भी चूल्हे के पास भोजन तैयार कर बैठी हुई पति के लिये तपस्या कर रही थी। गम्भीर भाव से भोजन कर रामकुमार बाहर आया, तब विद्या ने भी भोजन किया।

मारे डर के उसने कारण न पूछा। प्रेम से उच्छ्वासित हो, गम्भीर भाव से, पलङ्ग पर पड़े-पड़े पति ने स्वयं पत्नी से अपने अर्थोपगम का मन्त्र बतलाया। विद्या मुँह फेर कर हँसने लगी।"

पुराने रूढ़िवादियों में ऐसी सिधाई सर्वत्र नहीं; जहाँ वे गुट-बन्दी कर विकासवादियों का विरोध करते हैं, वहाँ व्यंग्य उत्तेजित और कठोर हो जाता है। इन के लिये लेखक के पास सहानुभूति नहीं, "शठे शाठ्यं" है। "सफलता" कहानी में नरेंद्र आभा को सिखाता है—"सामने आकर काटना देशी कुत्ते नहीं जानते। मैं मुँह पर विलायती ठोकरें लगाना सीख चुका हूँ, तुम्हें भी सिखाना चाहता हूँ।" और भी खुले रूप में "चतुरी चमार" में— "उन दिनों भाग्यवश मिले हुए अपने आवारागर्द नौकर से बीड़ी लेकर, सबके सामने दियासलाई लगा कर मैंने समझा दिया कि तुम्हारा इस जूठे धुएँ से बढ़ कर मेरे पास दूसरा महत्त्व नहीं।"

व्यंग्य के विचार से निराला जी की 'देवी' कहानी उनकी श्रेष्ठ कृति है। यह पहले सुधा में प्रकाशित हुई थी; अक्टूबर १९३५ में। आर्यनगर, लखनऊ के सरस्वती-पुस्तक भण्डार से प्रकाशित उनके कहानी-संग्रह "सखी" में यह पढ़ी जा सकती है। यहाँ हम रहस्य-वादी कवि श्री निराला की प्रतिभा का एक दूसरा पहलू देखते हैं। कल्पना-लोक के आदर्श के साथ एक बार जब वे यथार्थ संसार को देखने लगते हैं तो आदर्शवादी भावनाओं को कठोर धक्का लगता है। मनुष्य अभी उस आदर्श से कितनी दूर है; क्रम से देश के प्रचलित राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक विचार लेखक के व्यंग्य का लक्ष्य होते हैं। समाज, देश, संसार—सन्तोषजनक दशा कहीं नहीं है; फिर भी लोग अपनी क्षुद्रता को महत्ता समझ उस पर सन्तोष ही नहीं किये, गर्व का भी अनुभव किये बैठे हैं। ऐसा शिष्ट व्यंग्य, सच्ची अन्तर्व्यथा से निकला हुआ, जो पढ़ते ही सहृदय को प्रभावित कर सके, साहित्य में बहुत कम देखने को मिलता है।

अपने व्यंग्य का लक्ष्य लेखक पहले स्वयं होता है। "बारह साल तक मकड़े की तरह शब्दों का जाल बुनता हुआ मैं मक्खियाँ मारता रहा।" अकाल्पनिक संसार में आदर्शवादी की यह दशा होती है। "फ़ाकेमस्ती में भी मैं परियों के ख़्वाब देखता रहा..." उसने सोचा था कि साहित्य नरक से स्वर्ग बनायेगा, परन्तु इससे अपनी दुनिया से और दूर होता गया। संसार में बड़प्पन-छुटपन का विचित्र हिसाब है। लोग जिस बड़प्पन को देखते हैं वह मनुष्य के बाहर का बड़प्पन होता है, भीतर का नहीं। छोटों को समझाने के लिये वे कितने छोटे हैं; बड़े आदमी अपने बड़प्पन का खूब विस्तार करते हैं; इस लोक में ही नहीं, "चन्द्र, सूर्य, वरुण, कुबेर, यम, जयन्त, इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक बाक़ायदा बाहिसाब ईश्वर के यहाँ भी छोटे से बड़े तक का मेल मिला हुआ है।"

इन सब बातों को सोचता हुआ, हम, लेखक को होटल के बरामदे में आरामकुर्सी पर पैर फैलाकर लेटा हुआ देखते हैं। "बड़े होने के खयाल से ही मेरी नसें तन गईं, और नाम मात्र के अद्भुत प्रभाव से मैं उठ कर रीढ़ सीधी कर बैठ गया। सड़क की तरफ़ बड़े गर्व से देखा, जैसे कुछ कसर रहने पर भी बहुत कुछ बड़ा 'आदमी बन गया होऊँ। मेरी नज़र एक स्त्री पर पड़ी।" यही 'देवी" है। लोग उसे पगली कहते हैं। उसके एक छोटा बच्चा भी है। संसार के बड़े-बड़े आदमियों का ध्यान कर लेखक में अपने बड़प्पन का भाव उगा था। परन्तु इस मैली-कुचैली अर्द्ध-नग्न पगली के सामने वह भाव नहीं रहता? "उसे देखते ही मेरे बड़प्पन वाले भाव उसी में समा गये। और फिर वही छुटपन सवार हो गया।" बड़प्पन की भावनाओं पर कैसा सुन्दर व्यंग्य है; इस देवी के आगे बड़ों की बड़ाई किस अनुपात में रहती है? यही वह तुला है जिस पर लेखक देश के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक क्षेत्र में काम करनेवाले नेताओं आदि की महत्ता तौलता है। उसकी खुद की गौरव-भावनाएँ, हम देख चुके हैं, उसको

देखते ही ध्वस्त हो गईं। उसी की नहीं, उसने दर्शनशास्त्रों में मानसिक सूक्ष्मता के विश्लेषण पढ़े थे, रङ्गमञ्च पर किया रवीन्द्र-नाथ का अभिनय आदि भी देखा था, परन्तु "वह सब कृत्रिम था, यहाँ सब प्राकृत। यहाँ माँ-बेटे के मनोभाव कितनी सूक्ष्म व्यञ्जना से सञ्चारित होते थे, क्या लिखूँ! डेढ़-दो साल के कमज़ोर बच्चे को माँ मूक भाषा सिखा रही थी। आप जानते हैं, वह गूँगी थी। बच्चा माँ को कुछ कह कर न पुकारता था, केवल एक नज़र देखता था, जिसके भाव में वह माँ को क्या कहता था, आप समझिए; उसकी माँ समझती थी; तो क्या वह पागल और गूँगी थी?" साहित्य इसी तरह की प्रकृत भाव-व्यञ्जना से ऊँचा होता है, परन्तु यह जैसे आदर्श हो, साहित्य उसी को पकड़ने के लिये असफल, अर्द्ध-सफल प्रयत्न करता हो।

जिस सड़क पर पगली रहती है, उसी से होकर एक दिन नेता का जुलूस जाता है। बड़ी भीड़ है, जय-जयकार से आकाश गूँज रहा है, परन्तु यह सब तड़क-भड़क उस स्त्री के सङ्घर्ष में आ अपना बाहरी दिखावा फेंक भीतरी खोखलापन दिखाने के लिये बाध्य होती है। लेखक की दृष्टि से यह नहीं छिपता, औरों ने यह सङ्घर्ष और परिणाम चाहे देखा हो चाहे नहीं। "मैं उसी बरामदे पर खड़ा स्वागत देख रहा था। पगली भी उठ कर खड़ी हो गई थी। बड़े आश्चर्य से लोगों को देख रही थी, रास्ते पर इतनी बड़ी भीड़ उसने नहीं देखी। मुँह फैलाये, भौहें सिकोड़ कर आँखों की पूरी ताक़त से देख रही थी—समझना चाहती थी, वह क्या था। क्या समझी, आप समझते हैं? भीड़ में उसका बच्चा कुचल गया और रो उठा। पगली बच्चे की गर्द झाड़ कर चुमकारने लगी, और फिर कैसी ज्वालामयी दृष्टि से जनता को देखा! मैं यही समझता हूँ। नेता दस हज़ार की थैली लेकर ग़रीबों के उपकार के लिये चले गये, ज़रूरी-ज़रूरी कामों में ख़र्च करेंगे।"

इन ज़रूरी कामों का सम्बन्ध अवश्य पगली के गिरे बच्चे से नहीं। लेखक के व्यंग्य का अर्थ साफ़ है, देश के व्यथा-केन्द्र से नेता उतनी ही दूर है जितना वह पगली से।

देश के भक्तों को देख लिया। पगली के पास रामायणी-समाज में कथा हो रही थी। एतवार के दिन दो बजे से पाँच बजे तक गोस्वामी तुलसीदास की रामायण का पाठ हुआ। एक ओर रामायण और भक्त-मण्डली, दूसरी ओर वह पगली, लेखक दोनों को तौलता है। "उसमें हिन्दुओं के मँजे स्वभाव को साहित्य-सम्राट् गोस्वामी तुलसीदास जी ने और माँज दिया है, आप लोग जानते हैं। पाठ सुन कर, मँज कर भक्त-मण्डली चली। दुबली-पतली ऐश्वर्य-श्री से रहित पगली बच्चे के साथ बैठी हुई मिली: एक ने कहा, इसी संसार में स्वर्ग और नरक देख लो। दूसरे ने कहा, कर्म के दण्ड हैं। तीसरा बोला, सकल पदारथ हैं जग माहीं। कर्म-हीन नर पावत नाहीं। सब लोग पगली को देखते, शास्त्रार्थ करते चले गये।"

भक्तों ने रामायण से यही सीखा; वे शास्त्रार्थ करते चले गये!

लेखक के यहाँ और भी आदमी आते हैं; साहित्य, राजनीति आदि कई विषयों के आदर्श पर बहस होती है। लेखक को पगली का ध्यान है। उसका जिक्र करने पर उन आदर्शवादियों में से "कुछ हँसकर चले गये, कुछ गम्भीर होकर और कुछ, कुछ पैसे उसे देने के लिये देकर।" साहित्य और राजनीति के आदर्शों पर वादविवाद का कैसा सुन्दर अन्त होता है।

उस रास्ते पर अनेक तरह के व्यक्ति गुज़रते हैं; लेखक पगली को चित्र की केन्द्र-मूर्ति कर उसके अन्तर से उनका मूल्य आँकता है। हिन्दू, मुसलमान, बड़े-बड़े पदाधिकारी, राजा, रईस सब वहाँ से जाते हुए पगली को देखते हैं, "पर किसी ने दिल से भी उसकी तरफ देखा, ऐसा नहीं देखा।"

देश पर शासन करने वाली शक्ति का अब प्रदर्शन देखिए। एक ओर पगली, दूसरी ओर पल्टन की क़वायद। लेखक के बड़े

बालों को देख कर सिपाही मुस्कराते थे, उसके लम्बे-चौड़े कसरती बदन को देख आतङ्क नहीं खाते। इसका निश्चय कर वह पगली की ओर देखने लगता है। "पगली बैठी थी, सिपाही मिलिटरी ढङ्ग से लेफ्ट-राइट दुरुस्त, दर्प से जितना ही पृथ्वी को दहलाते हुए चल रहे थे, पगली उतना ही उन्हें देख-देख कर हँस रही थी। गोरे गम्भीर हो जाते थे। मैंने सोचा, मेरा बदला इसने चुका लिया। पगली ने खुशी में अपने बच्चे को भी शरीक करने की कोशिश की—माँ अच्छी चीज, अच्छी तालीम बच्चे को देती ही है, पगली पास बैठे बच्चे की ओर देख कर चुटकी बजा कर सिपाहियों की तरफ उँगली हवा में कोंच-कोंच कर दिखा रही थी, और हँसती हुई जैसे कह रही थी—"खुश तो हो? कैसा अच्छा दृश्य है!"

इस व्यंग्य का यहीं अन्त नहीं होता। पगली की कसौटी पर विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों का आदर्शवाद कसकर लेखक का ध्यान मनुष्य मात्र की ओर जाता है। किसी श्रेणी, किसी जाति के मनुष्य नहीं, संसार के मनुष्यों का ही धर्म कहने को और, और करने को कुछ और है। अपने में सुन्दर से सुन्दर गुणों की कल्पना कर मनुष्य अपनी जाति के धर्म को विश्व का श्रेष्ठ धर्म बताता है, परन्तु आचरण में देखिए तो मनुष्य कितना अमानुषिक है। उस उच्च आदर्श का स्वप्न देख संसार में जो अमानुषिकता Gulliver's Travels के लेखक ने देखी, उसी से प्रेरित हो उसने Yahoos की कल्पना की थी। यहाँ मनुष्य की मनुष्य के प्रति वैसी घृणा नहीं, परन्तु व्यंग्य कम तीव्र नहीं। पगली को दूसरों की कृपा से कुछ पैसे मिल जाया करते थे। "एक दिन मुझे मालूम हुआ, उसके पैसे बदमाश रात को छीन ले जाते हैं। यह मनुष्यों का विश्वव्यापी धर्म सोच कर मैं चुप हो गया।" लेखक को पगली में देवी के दर्शन होते हैं; और मनुष्यों का धर्म क्या है, सोते में असहायों के चुपचाप पैसे चुरा ले जाना। आदर्श से दूर मनुष्य का यथार्थ रूप यहाँ देखने को मिलता है।

व्यंग्य का मूल्य इसमें है कि वह हमें अपनी कमज़ोरियों से सचेत करता है। जहाँ-जहाँ लोग अपनी पतित मनोवृत्तियों से संतोष कर बैठ रहे हैं, वहाँ प्रतिभाशाली लेखकों ने अपने तीव्र व्यंग्य-बाणों से उन्हें जगाया है। अच्छे व्यंग्यपूर्ण गद्य की हमारे समाज और हमारे साहित्य को नितान्त आवश्यकता है। पहले भी थी, ज्यों-ज्यों इस दशा में और दिन बीतते जाते हैं त्यों-त्यों और होती जाती है। अकर्मण्यता, आलस्य, आत्म-सन्तोष के फैले जाल को छिन्न करने के लिए लेखक के हाथ में व्यंग्य से अधिक सुन्दर शस्त्र नहीं हो सकता। मनुष्य को जब मर्मस्थलों में आहत अपनी निर्बलताओं का ज्ञान होता है तब उन्हें दूर कर अपने को दूसरों के सामने सबल सिद्ध करने का वह प्रयत्न करता है। देवी के लिए मैं इतना ही कहूँगा, मनुष्य का उच्च आदर्श चित्रित करने के लिए लिखी गई हिन्दी की अत्यन्त सुन्दर कविता से, क्या कला, क्या समाज की भलाई की दृष्टि से, उसका अधिक मूल्य है।

निराला जी के हास्य की यह विशेषता है कि वह घटना प्रधान नहीं। विचित्र घटनाएँ, दृश्य, व्यक्ति आदि का चित्रण कर वे हमें हँसाना नहीं चाहते। जीवन की छोटी-छोटी बातों में हास्य की सामग्री यदि खोजें तो हमें मिल सकती है, निराला जी का गद्य पढ़ने पर यह स्पष्ट होता है। ऐसा हास्य सबको आनन्द देता है; व्यंग्य यदि हुआ तो उसका हल्का पुट होता है। उसकी शिष्टता, स्वाभाविकता और निर्दोषिता उसे सर्वप्रिय बनाती है। इसी के कुछ उदाहरण देता हूँ।

(१) "स्वामी सारदानन्द जी महाराज और मैं"—में

"स्वामी जी मेरे गले में अपनी उँगली से एक बीजमन्त्र लिखने लगे। मैंने मन को गले के पास ले जा कर, क्या लिख रहे हैं, पढ़ने की बड़ी चेष्टा की, पर कुछ मेरी समझ में न आया।"

(२) "सफलता" कहानी में जब नरेन्द्र और आभा एक साथ रहने लगते हैं तब—

"दूसरे दिन से कई दिनों तक लगातार नरेन्द्र को देख-देख कर गाँव वालों ने घृणा से अपना ही सर झुका-झुका लिया और घर-घर राय क़ायम हो गई कि आभा के बाप की नाक कट गई। कीच पर ढेले चलाने से छींटे अपने ऊपर आएँगे, यह समझकर वयोवृद्धों ने आभा के घर वालों को थाने जाने से रोका।"

(३) "चतुरी चमार" कहानी में उसी नाम के नायक की बातचीत में सरल तथा मधुर हास्य है--

कबीर की कोई उल्टवाँसी सीधी करने के लिए कहे जाने पर--"कौन सुनाऊँ ?" चतुरी ने कहा--"एक से एक बढ़कर हैं। मैं कबीरपन्थी हूँ न काका, जहाँ गिरह लगती है, साहब आप खोल देते हैं।" मैंने कहा--"तुम पहुँचे हुए हो, यह मुझे कल ही मालम हो गया था।" चतुरी आँख मूँद कर शायद साहब का ध्यान करने लगा, फिर सस्वर एक पद गुनगुना कर गाने लगा, फिर एक-एक कड़ी गा कर अर्थ समझाने लगा। उसके अर्थ में अनर्थ पैदा करना आनन्द खोना था। जब वह भाष्य पूरा कर चुका, जिस तरह के भाष्य से हिन्दी वालों पर 'कल्याण' के निरामिष लेखों का प्रभाव पड़ सकता है, मैंने कहा--"चतुरी, तुम पढ़े-लिखे होते, तो पाँच सौ की जगह पाते।" ख़ुश होकर चतुरी बोला--"काका, कहो तो अर्जुनवा (चतुरी का एक सत्रह साल का लड़का) को पढ़ने के लिए भेज दिया करूँ, तुम्हारे पास पढ़ जायगा, तुम्हारी विद्या ले लेगा, मैं भी अपनी दे दूँगा। तो कहो, भगवान की इच्छा हो जाय, तो कुछ हो जाय।"

चतुरी को अपनी विद्या पर उतना ही गर्व है जितना शायद उसके काका को अपनी पर। अपनी विद्या उन्हें दे उनकी विद्या अपने पुत्र के लिए चाहता है; इस परिवर्तन से उसे आशा है शायद कुछ बड़ी बात हो जाय ! फिर भी चतुरी की अपने काका पर बड़ी श्रद्धा है। गढ़ाकोला के जितने आदमियों से मैं मिला उनमें चतुरी के हृदय में उनके प्रति सबसे अधिक प्रेम और भक्ति थी।

एक प्रसिद्ध लेखक की लेखनी से अमर होने के वह योग्य न था। "चतुरी चमार" निर्दोष हास्य का एक बहुत सुन्दर नमूना है।

(४) 'अलका' में देहातियों की बातचीत सुनिए--

"सुराज क्या है रे?"--बुधुआ ने महँगू से पूछा।

"किसानों का राज।"--गंभीर होकर महँगू ने कहा।

"तो क्यों रे महँगू।" बुधुआ ने पूछा--"फिर ये ज़मींदार और पटवारी क्या करेंगे?"

"झख मारेंगे, और क्या करेंगे?"

बुधुआ कुछ समझ न सका कि ये देश-गाँव में रहते हुए कैसे झख मार सकते हैं। महँगू भी गहराई तक नहीं समझता था। सुनता था जो कुछ, पचीसों उलट-फेर के बाद, ख़ुद भी न मानता था कि यह पुलिस वाली सरकार और ज़मींदार लोग लगान वाला हक़ छोड़कर ख़्वाब की तरह कैसे ग़ायब हो जायँगे। पर दूसरों को नेताओं की तरह समझाना उसकी आदत पड़ गई थी।

बुधुआ ने डरते-डरते, पलकें तिलमिलाते हुए धीरे से पूछा--"ये कहाँ जायँगे, रे महँगू?"

"तू तो बात पूछता है और बात की जड़ पूछता है। गन्धी महारानी का प्रताप ऐसा है कि इनके हाथ बँध जायँगे और बोल बन्द हो जायगा। तब ये किसानों के तलवे चाटेंगे।"

--मार्च, १९३७

१४

* *

"हाइपीरियन"

कीट्स की काव्यकृतियों में "हाइपीरियन" की महत्ता उस समय के अनेक साहित्यिकों ने स्वीकार की थी। यह छोटा-सा काव्य तीन सर्गों में विभाजित है। अधिकांश आलोचकों का मत रहा है कि वह अपूर्ण है; कीट्स की इच्छा उसे एक महाकाव्य के रूप में रचने की थी। आधुनिक आलोचकों में जॉन मिडलटन मरी ने "हाइपीरियन" की पूर्णता पर ज़ोर दिया है। कीट्स की इच्छा जो भी रही हो, मरी ने इस बात को सिद्ध किया है कि एक काव्य के रूप में वह पूर्ण है। उसके मत का अभी तक समुचित खंडन किसी ने नहीं किया। कीट्स के मित्रों में वह एक अपूर्ण महाकाव्य के खंडरूप में प्रसिद्ध था। परन्तु उस के रचना-सौंदर्य को सभी ने स्वीकार किया था और शेली-जैसे उत्तरदायी साहित्यिक ने तो उसे मिल्टन के सर्वप्रसिद्ध अँगरेजी के श्रेष्ठ काव्य-ग्रंथ, पैरैडाइज़ लॉस्ट से भी अच्छा बताया था। Leigh Hunt ने Indicator में उस की

fragment—a gigantic one, like a ruin in the desert, or the bones of the mastodon. (एक काव्य-खण्ड—एक महाकार, जैसे मरुभूमि में विशाल खँडहर अथवा मैस्टोडन का ढाँचा।)

बाइरन पहले कीट्स से असन्तुष्ट था। Edinburgh Review में जो उस की कृतियों की प्रशंसा छपी थी, उस से वह रुष्ट हो गया था परन्तु "हाइपीरियन" के विषय में उसने लिखा था—"His fragment on *Hyperion* seems actually inspired by the Titans and is as Sublime as Aeschylus." (उसका काव्यखंड "हाइपीरियन" देवताओं की वास्तविक अनुभूति से ही प्रेरित जान पड़ता है और वैसा ही महान् है जैसे ऐश्किलस्।) ऐश्किलस् ग्रीस का सर्वश्रेष्ठ नाटककार था; कीट्स की उस से तुलना करना, बाइरन के लिए यह अर्थ रखता था कि वह योरप के श्रेष्ठ कवियों में था। सामयिक काव्यों में इस कृति की श्रेष्ठता को शेली ने स्वीकार किया था। "If *Hyperion* be not a grand poetry, none has been produced by our contemporaries." (यदि "हाइपीरियन" महान् काव्य नहीं है तो दूसरा इस युग में और रचा नहीं गया)। कीट्स ने मिल्टन के अनुकरण पर बहुत कुछ इसकी रचना की थी; साथ ही उसमें ग्रीक सभ्यता का वह नवीन जागरण भी था, जो शेली-से कवि को अत्यन्त प्रिय था। किसी हद तक कहा जा सकता है, मिल्टन का काव्य लैटिन सभ्यता को बिंबित करता है, कीट्स का काव्य ग्रीक सभ्यता को।

शेली ग्रीक साहित्य का पंडित और भक्त था; ग्रीक साहित्य की छाया उस के काव्य की आत्मा में घुली-मिली है। "हाइपीरियन" के लिए उस का उत्साह बोधगम्य है। आधुनिक आलोचकों ने उसमें कीट्स की मौलिकता को अधिक प्रकाशित किया है। "हाइपीरियन" का छन्द-निर्वाह, भाषागठन आदि ही नहीं, उस का मूल विषय भी अधिकांश मात्रा में कीट्स का अपना, मौलिक है। पहले के आलो-

के समान था; आज कीट्स अपने कवि-आसन पर सुचारु प्रतिष्ठित है——उसके आलोचक, अतः "हाइपीरियन" को उसी की मौलिकता का द्योतक मानने में उसे ओछा नहीं मानते। मरी ने इस काव्य को 'अँगरेज़ी की सबसे वेदनापूर्ण कृति' कहा है, साथ ही उसकी विचारधारा को कीट्स की ही नहीं, किसी भी महाकवि की पूर्ण विकसित प्रतिभा का परिचायक बताया है।

"हाइपीरियन" जैसा भी है, उसे समाप्त करने के पश्चात् कीट्स ने कुछ महीने बाद उसे फिर हाथ में लिया। वह उसे एक नया रूप देने लगा; परन्तु अन्त में उसके पुनर्निर्माण की चेष्टा छोड़ दी। यह उसकी अन्तिम रुग्णावस्था और मृत्यु के पहले की बात है। बीसवीं सदी के बीस बरस बीत जाने तक भी आलोचकों ने इस दोहराई रचना को कीट्स का दुःसाहसमात्र समझा था, "विनाशकाले विपरीत-बुद्धिः" का एक उदाहरण। रोग ने कीट्स की प्रतिभा को भी डस लिया था और उसे इस बात का ज्ञान न था कि वह क्या कर रहा है। मिडलटन मरी ने पहले-पहल उसकी महत्ता को घोषित करते हुए उसे पूर्व के "हाइपीरियन" के बराबर ही स्थान दिया। परन्तु मरी ने यह पूर्ण रूप से सूचित नहीं किया कि किस प्रकार यह दूसरी अधूरी कृति पहलेवाली से अधिक विकसित है और मूलतः उसकी विचारधारा क्या है। पूर्व के "हाइपीरियन" की यहाँ प्रतिच्छविमात्र देख, दोनों की अनुकूलता में ही उसने परवर्ती कृति की महत्ता को स्वीकार कर लिया है।

"हाइपीरियन" लिखने के पहले कीट्स अपने मित्र ब्राउन के साथ स्काटलैण्ड गया था। अपने साथ वह इटालियन कवि डांटे की "डिवीना कमेडिया" का केरी-कृत अँगरेज़ी अनुवाद भी ले गया था। "हाइपीरियन" लिखने के पूर्व वह डांटे की कृति से अनुवाद-रूप में परिचित था। केरी के अनुवाद से वह काफ़ी प्रभावित हुआ था; फिर भी "हाइपीरियन" में मिल्टन का अध्ययन सबसे अधिक झलकता है। जब इस काव्य-खंड को वह दोहराकर लिखने बैठा, तब उसने उसे डांटे की कृति का रूप देना शुरू किया। "डिवीना

कमेडिया" एक स्वप्न के रूप में वर्णित है। उसका वास्तविक तथ्य प्रतीकों की आन्तरिक व्यंजना खोजने पर ही सुबोध होता है। कीट्स ने अपनी कविता का नाम रक्खा, "The Fall of Hyperion: A Vision." "हाइपीरियन" में भाषा, छन्द आदि से अधिक भाव में मिल्टन से साम्य है। जैसा कीट्स ने मिल्टन को समझा था; एक दार्शनिक, जिसने संसार की जटिल गुत्थियों को सुलझाकर शांति-लाभ किया था, वैसा ही स्वयं बनने की चेष्टा उसकी कृति में स्पष्ट है। परन्तु इसी समय उसके ऊपर एक दूसरे कवि का भी प्रभाव पड़ रहा था, इटालियन कवि डांटे का। ब्राउन के अनुसार स्काटलैण्ड से आने पर वह इटालियन भाषा के अनुशीलन में विशेष दत्तचित्त था। ली हंट ने लिखा है कि उसने डांटे को मूल में भी पढ़ा था। जिन आलोचकों ने मूलकृति की प्रतिध्वनियाँ नये "हाइपीरियन" अथवा "फॉल" में देख आश्चर्य प्रकट किया है, उन्होंने कीट्स के इटालियन ज्ञान की ओर ध्यान नहीं दिया। "The Fall of Hyperion", कीट्स पर डांटे के प्रभाव का ज्वलन्त प्रमाण है। इस नवीन कवि को उसने तब पाया, जब उसके जीवन के थोड़े दिन बाक़ी रह गये थे, फिर भी उसकी आध्यात्मिक अनुभूति पूर्णरूप से गतिशील और अपने चरम विकास पर थी। निश्चय कीट्स ने डांटे में वह पाया जो उसे शेक्सपियर और मिल्टन में न मिला था। उसका अनुभव उसे डांटे की दिशा में ही खींच रहा था और अन्त में वह उसे मिल गया। यहाँ किसी कवि की बड़ाई-छुटाई का सवाल नहीं है। कीट्स को अपनापन सबसे अधिक डांटे में मिला। इस अन्तिम महती कृति में कीट्स के अनुभव को, उसके व्यक्तित्व के प्रौढ़ विकास को, उसकी आध्यात्मिकता के अन्यतम तथ्य को, पूर्ण व्यंजना मिली है, ऐसी, जैसी पहले की कृतियों में कहीं न मिली थी। वह कीट्स की महत्तम कृति है, इसलिए कि उसने अपने आपको सबसे अधिक सचाई के साथ इसमें व्यक्त कर पाया है। उसकी पूर्व कृतियों का इसके साथ अध्ययन

करने पर ऐसा लगता है जैसे छोटी-छोटी विचारधाराएँ धीरे-धीरे मिलकर एक महानद में परिवर्तित हो रही हों।*

"हाइपीरियन" सूर्य के देवता का नाम है। "हाइपीरियन" और उसके साथियों के पतन के बाद नये सूर्य के देवता "अपोलो" और उसके साथी देवताओं का राज्य होता है। "हाइपीरियन" कविता की यही कहानी है। इस उत्थान-पतन में कीट्स ने मानव-समाज के क्रमिक विकास की झलक देखी है; एक उन्नति करता है, फिर उसका पतन होता है, साथ ही दूसरे का उत्थान। कीट्स ने जिस समय इस काव्य की रचना आरंभ की, उस समय उसका छोटा भाई टॉम राजयक्ष्मा से पीड़ित मरणासन्न अवस्था में था। "हाइपी-रियन" और उसके साथियों का पतन एक प्रकार से कीट्स के भाई

---

* कीट्स के विद्यार्थी यहाँ कह सकते हैं कि उसने २२ सितम्बर, १८१९ को "हाइपीरियन" (दोहराई हुई कृति) लिखना छोड़ दिया था, इसलिए कि उस में मिल्टन का प्रभाव अत्यधिक था। तब यह नवीन कृति मौलिक कृति कैसे हुई ? परन्तु वे स्मरण रक्खेंगे कि मिल्टन का प्रभाव पहली में अधिक है दूसरी में कम। कीट्स, "हाइपीरियन" के पुनर्निर्माण में, पहली कृति से अंश ले कर नई में फ़िट करता जाता था। ये अंश देखने में ही बेजोड़ मालूम होते हैं। कीट्स का इंगित इन की ओर हो सकता है। इस के अलावा उसने सितम्बर में सचमुच ही "फॉल" का लिखना बंद नहीं कर दिया था। उसके घनिष्ठ मित्र ब्राउन के अनुसार नवम्बर-दिसम्बर में भी वह संध्या समय उसकी रचना में लगा हुआ था। सेलिन-कोर्ट आदि आलोचकों ने इस प्रमाण की सत्यता को स्वीकार किया है। इस से यही सिद्ध होता है कि कीट्स ने अपना उत्तरदायित्व समझते हुए इस नवीन कृति को सँवारने की चेष्टा की थी। वह समाप्त न हो सकी, इस के अनेक कारण हो सकते हैं; परंतु उस ने उसे इसलिए अधूरा नहीं छोड़ दिया कि वह अमौलिक थी।

की रुग्णता और उसकी मृत्यु का व्यंजक है। "हाइपीरियन" का अनुगामी देवता "अपोलो" कीट्स ही है। "अपोलो" सूर्य का देवता होने के साथ ही साहित्य का भी अधिष्ठाता है। इसलिए कवि कीट्स के प्रतीक होने में उसकी सार्थकता है। प्रथम दो सर्गों में पूर्ववर्ती देवताओं की वेदना का वर्णन है; तीसरा सर्ग आरंभ करने के पूर्व टॉम की मृत्यु हो चुकी थी। इस तीसरे सर्ग में "अपोलो" की नवीन देवत्व-प्राप्ति का वर्णन है। जिस समय "हाइपीरियन" अपने साथियों के साथ वेदना में निमग्न है, उस समय नव-युवक "अपोलो" अपनी माता को सोती छोड़ एक घाटी में घूमने चला जाता है। पास ही एक टापू है जहाँ घने लताकुंजों के बीच लहरों की सतत मर्मर ध्वनि सुनाई देती है। "अपोलो" इस शब्द को सुनता है और उसकी आँखों से आँसू ढुलककर उसके सुनहले धनुष पर गिर पड़ते हैं। यह वेदना अकारण नहीं, कीट्स की ही अपने भाई की मृत्यु से उत्पन्न वेदना है। जिस समय वह इस तरह आँखों में आँसू भरे खड़ा होता है, तभी वृक्षों की ओट से गंभीर गति से उसकी ओर आती एक प्रौढ़ा देवी दिखाई देती है। देवी "अपोलो" को बताती है कि उसने उसके जन्म से ही अज्ञात रूप से अब तक उसकी रक्षा की है। दुःख में इस प्रकार उसे अभिभूत देख देवी को भी दुःख होता है। "अपोलो" उसे अपने दुःख का कारण बताता है; अज्ञान का अन्धकार ही उसकी पीड़ा का कारण है। वह अकेले एकान्त में घूमा करता है। एक अज्ञात वेदना रह-रहकर उसके हृदय को दबाया करती है; यहाँ तक कि वह थककर परकटे पक्षी की भाँति ज़मीन पर बैठ जाया करता है। वह अपने "लायर" के साथ किसी दूर नक्षत्रलोक में जाकर उसे अपने गीत से गुंजा देना चाहता है। परन्तु उसकी वेदना उसे स्थिर नहीं रहने देती। देवी निरुत्तर रहती है, परन्तु उसके मुख की ओर देखते-देखते ही, "अपोलो" में एक नई शक्ति का स्फुरण होता है। उसे जैसे भूत-भविष्य-वर्तमान की सभी घटनाओं का एक

साथ ज्ञान हो जाता है। उसकी आँखों से एक नवीन ज्योति फूटने लगती है; शीघ्र ही उसके सारे शरीर में स्पंदन होने लगता है और उसे मृत्यु की-सी यन्त्रणा होती है, जैसे कोई मृत्यु का अनुभव करते-करते सहसा एक नवीन जीवन लाभ करे। "अपोलो" इस वेदना का अनुभव कर नव-देवत्व लाभ करता है। उस के सुनहले बाल उसकी गर्दन के पास हिलते रहते हैं और देवी अपना हाथ उठाये खड़ी रहती है, जैसे कोई भविष्यवाणी करने जा रही हो। यहीं पर "हाइपीरियन" खत्म हो जाता है।

"हाइपीरियन" द्वारा कीट्स ने मनुष्य के क्रमिक विकास में अपना विश्वास घोषित किया है। "अपोलो" सैटर्न के बाद इस कारण सूर्य का देवता होता है कि वह सैटर्न से अधिक सुन्दर है। जो सुन्दर हो वही शक्तिमान् हो, इस सिद्धान्त का "हाइ-पीरियन" में प्रतिपादन किया गया है।

'Tis the eternal law,

That first in beauty should be first in might.

इसी नियम के अनुसार देवों की कोई दूसरी अधिक सुन्दर जाति अपोलो के भी साथियों को हटा कर स्वयं राज्य लाभ कर सकती है। और अपोलो क्यों हाइपीरियन से अधिक सुन्दर है? इसलिए कि उसने संसार की वेदना का अनुभव किया है। ज्ञान की खोज में व्यथित वह अकेला टापू में घूमा है।

For me, dark, dark,
And painful vile oblivion seals my eyes:
I strive to search wherefore I am so sad,
Until a melancholy numbs my limbs;
And then upon the grass I sit, and moan,
Like one who once had wings.

घने अंधकार ने उस की आँखों को मूंद रक्खा है। वह जानना चाहता है, उस की वेदना का क्या कारण है; परन्तु एक अज्ञात

दुःख की भावना उसकी देह को क्लांत कर देती है। वह घास पर बैठकर कराहने लगता है, उस व्यक्ति की भाँति जिसके पहले कभी पंख रहे हों। देवी Mnemosyne के दर्शन से उस का अज्ञान दूर होता है और उस में एक दैहिक और मानसिक परिवर्तन हो जाता है। "हाइपीरियन" में एक बात स्पष्ट नहीं हो पाई। यह Mnemosyne कौन है, और उसे देख कर अपोलो का अज्ञान क्यों दूर होता है। जब इस कविता को दोहरा कर कीट्स ने लिखना शुरू किया तो उस ने इस बात का ध्यान रक्खा। "Fall of Hyperion" की विशेषता, इस देवी का, जो वहाँ Moneta के नाम से पुकारी गई है, वर्णन है। वह एक प्रतीक के रूप में सामने आती है और उस के द्वारा कीट्स ने सूचित किया है कि किस प्रकार मनुष्य को ज्ञान-लाभ हो सकता है।

इस नवीन कविता में कीट्स स्वप्न देखता है कि वह एक विचित्र प्रदेश में है, जहाँ संसार के सभी वृक्ष लगे हुए हैं। वह एक ऐसी जगह पहुँचता है जो लताकुंजों से घिरी हुई है और उसे दूर पर कहीं झरनों का शब्द सुनाई देता है। एक कुंज के भीतर उसे कुछ खाने-पीने की सामग्री दिखाई देती है। अनेक प्रकार के सुस्वादु फल वहाँ रक्खे हैं, जिन्हें वह खाता है और इस के बाद एक प्याऊ से मीठा पेय ले कर पीता है। उसे गाढ़ निद्रा आ घेरती है और वह सो जाता है। बहुत काल तक सोने पर जब उस की निद्रा टूटती है, तो वह उठ खड़ा होता है परन्तु देखता है कि वे वृक्ष और लताकुंज सहसा कहीं अंतर्धान हो गये हैं। उन के स्थान पर कुछ दूर पर उसे एक विशाल मन्दिर दिखाई देता है, इतना ऊँचा, जिस के नीचे बादल क्रीड़ा कर सकते हैं, उसी प्रकार जैसे वे नक्षत्रों के नीचे छाये रहते हैं। संसार में वैसा कवि ने कुछ न देखा था। वह मन्दिर अनन्त काल के लिए वहाँ पर निर्मित किया जान पड़ता था। द्वार के निकट रंगबिरंगे वस्त्र, क़ीमती आभूषण, अनेक प्रकार के हीरे-मोती पड़े हुए थे! इस

मन्दिर के भीतर एक विशाल मूर्ति स्थापित थी, जिसके पास पहुँचने के लिए दो ओर से सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। धीरे-धीरे नज़दीक पहुँच कर उसने देखा, वहाँ एक पुजारिन हवन आदि कर रही है और हुत सामग्री से एक धीमी लौ उठ रही है। कवि के निकट पहुँचने पर उस स्त्री ने उसे ऊपर चढ़ने का आदेश किया।

कवि ने अपने कार्य की गरिमा का अनुभव किया। सहसा नीचे की भूमि से उसे एक विचित्र शीत का अनुभव हुआ और वह लहर की तरह ऊपर चढ़ने लगी। हृदय की शिराओं तक वह लहर चढ़ आई; वह ज़ोर से चिल्लाया और उसका शब्द उसी के कानों में प्रतिध्वनित हो उठा। उसने शीत से बचने का बड़ा प्रयत्न किया; सबसे नीचे की सीढ़ी तक पहुँचने की उसने भरसक चेष्टा की। परन्तु शीत बढ़ता गया; उसे हृदय में एक जड़ता का अनुभव हुआ। उसने अपने हाथ एक दूसरे से मिलाये, परन्तु वे चेतनाशून्य हो रहे थे। मृत्यु के एक क्षण पूर्व उसका पैर नीचे की सीढ़ी से छू गया और उसके छूते ही शरीर में नवजीवन का संचार होना आरम्भ हो गया। वह शीघ्रता से सब सीढ़ियाँ चढ़ गया।

ऊपर वह पुजारिन के निकट पहुँच जाता है। वह लंबे वस्त्रों में ढँकी हुई है और वह उसका मुँह नहीं देख सकता। कवि पूछता है, उसने ऐसा क्या किया है जो उसे मन्दिर के भीतर प्रवेश प्राप्त हो सका है। वह स्त्री कहती है—

Thou hast felt
What 'tis to die and live again before
Thy fated hour.

अपने निश्चित समय के पूर्व ही कवि मृत्यु का अनुभव कर पुनर्जीवित हो उठा है। यहाँ हम अपोलो के साथ कीट्स का साम्य देख सकते हैं। मृतप्राय होने के बाद अपोलो को देवत्व-लाभ हुआ था; यहाँ कवि कीट्स को मृत्यु का अनुभव करने के बाद नवीन

शक्ति प्राप्त होती है। कुंज में बैठकर उसने जो फल खाये थे, उसका अर्थ उसने सांसारिक सुख का अनुभव किया था। ऐंद्रिय सुख ने उसे सुला दिया। निद्रा-भंग होने पर उसने देखा, कहीं कुछ भी न था। वह मन्दिर के निकट आया और उसे एक विचित्र यन्त्रणा सहनी पड़ी। कवि विश्व की वेदना का अनुभव करने को अग्रसर हो रहा है। अमरत्व-प्राप्ति का यही एक मार्ग है।

वह पुजारिन कवि को बताती है कि वह मंदिर सैटर्न का है। वह स्वयं उस एकान्त की देवी मोनेटा है। धीरे-धीरे वह अपने मुँह पर से अवगुंठन हटाती है और कवि देखता है—

A wan face,
Not pined by human sorrows, but bright-blanch'd
By an immortal sickness which kills not;
It works a constant change, which happy death
Can put no end to; death wards progressing
To no death was that visage.

उसका मुख पीतवर्ण था। उसे मानवीय व्यथा ने क्लांत न बनाया था; प्रत्युत एक अमर वेदना से उसमें एक उज्ज्वल कांति आ गई थी। यह वेदना उसमें सदैव कुछ परिवर्तन करती, जिसका अंत करना मृत्यु के भी वश में न था। वह मुख जैसे मृत्यु की ओर अग्रसर होता हुआ भी मृत्यु के लिए न था। मृत्यु की क्रिया जैसे उस पर असर नहीं कर सकती हो। उसके आच्छादन और मुख ने कवि के हृदय में कुछ भय उत्पन्न किया, परन्तु उसके नेत्र देखकर उसे ढाढ़स बँधा। उनसे एक शान्त ज्योति का स्फुरण होता था; पलकों से वे आधी-आधी ढँकी हुई थीं। मालूम होता था, वे देख कुछ भी नहीं रही हैं। उन्हों ने कवि की ओर नहीं देखा, वरन् एक लक्ष्यहीन प्रकाश फैलाती रहीं, जैसे चन्द्रमा जिन्हें देखता नहीं, उन्हें भी शांति देता है, जो जानता नहीं है कि उसकी अभ्य-

र्थना में कितनी आँखें ऊपर को उठी हुई हैं। जैसे कोई पहाड़ के किनारे सोने का एक कण पा कर उस के भीतर की धनराशि पाने को व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार मोनेटा का मुख देख कवि यह जानने को उत्सुक हुआ कि उस के मस्तक में कौन-से विचार आ-जा रहे हैं, वह कौन-सा वेदनापूर्ण नाटक है जिस के कारण उस के होंठ इस गम्भीरता से एक-दूसरे से सटे हुए हैं, और उस की आँखों से ऐसी विचित्र ज्योति विस्फुटित हो रही है। अपनी इच्छा प्रकट करते ही उसे एक विशाल अंधकारपूर्ण वन में एक मूर्ति-सी दिखाई दी जैसी उसने मन्दिर में देखी थी। तब मोनेटा ने बतलाया, वह सैटर्न था, जब उस का राज्य उस से छिन गया था। इस के अनन्तर कवि को एक नवीन शक्ति का अनुभव हुआ।

There grew
A power within me of enormous ken
To see as a god sees, and take the depth
Of things as nimbly as the outward eye
Can size and shape pervade.

देवता की भाँति उसे वह सूक्ष्म दृष्टि मिली, जिस से वह वस्तुओं के बाह्य आकार-प्रकार के साथ उनके आंतरिक सत्य को भी जान सकता।

I sat myself
Upon an eagle's watch, that I might see,
And seeing ne'er forget.

वह बाज के समान पर्यवक्षण में दत्तचित्त हो कर बैठा, जिस से वह देख सके और देख कर फिर भूल न सके। यहाँ से पुराने "हाइपीरियन" के अंश कुछ हेर-फेर के साथ कीट्स उद्धृत करता जाता है। सैटर्न का पतन और अपोलो की विजय का ही वह नाटक है, जिसे देखने को उसे यह नवीन दृष्टि मिली है।

कीट्स ने दोहराये हुए "हाइपीरियन" को समाप्त नहीं किया। आलोचकों ने इस के अनेक कारण बताये हैं। एक बात स्पष्ट है,

कीट्स एक ही कविता में दो मोनेटा नहीं ला सकता था। अपोलो को देवत्व-लाभ नेमोसाइन के दर्शन से हुआ था; उस का स्थान मोनेटा ने ले लिया है। अपोलो के नवज्ञान-प्राप्ति के लिए वह फिर न लाई जा सकती थी। वास्तव में अपोलो का कार्य कीट्स स्वयं पहले कर चुका है। यह घटना फिर न दुहराई जा सकती थी। जो नाटक कीट्स देखने जा रहा था, उस की पूर्ति में यही सब से बड़ी रुकावट थी। दूसरे सर्ग के थोड़ा बढ़ने पर ही कीट्स ने कविता को पूरा करना छोड़ दिया। परन्तु एक प्रकार से कीट्स के नई दृष्टि पाते ही "हाइपीरियन" दूसरी बार लिखा जा चुका था। कविता के पूर्व रूप में कथाभाग का मूल ध्येय अपोलो के परिवर्तन को प्रदर्शित करना था। कवि ने आगे वहाँ यह न दिखाया था, अपोलो ने अपनी नवीन दृष्टि से क्या देखा। यहाँ भी इस नवीन शक्ति की प्राप्ति से ही कविता का अन्त किया जा सकता था।

डांटे को अपनी "डिवीना कमेडिया" में बहुत कुछ वही स्थान प्राप्त है, जो कीट्स को "फॉल" में। वर्जिल, डांटे को इनफर्नो, पर्गेटरी और स्वर्ग के दृश्य दिखाता ले जाता है, मोनेटा भी उसी प्रकार कीट्स को सैटर्न के पतन के दृश्य दिखाती है। परन्तु वर्जिल, डांट को अपनी ओर से वह नवीन दृष्टि नहीं देता जो मोनेटा कीट्स को देती है। वर्जिल के साथ जाता हुआ डांटे अन्त में स्वर्ग में बेआट्रिस के दर्शन करता है; परन्तु कीट्स मोनेटा से अधिक सुन्दर, अधिक सत्य और किसे देख सकता? शायद वह राज्य-च्युत सैटर्न के साथियों की वेदना में डांटे के इनफर्नो की एक झाँकी देना चाहता था। बाद में अपोलो के देवत्वलाभ का दृश्य स्वर्ग के अनुरूप होता। परन्तु इतनी दूर तक कथा को ले जाना कठिन था, यह ऊपर देखा जा चुका है। कीट्स को जो कुछ कहना था, वह उसने मोनेटा के वर्णन ही में कह डाला है।

पूर्व के "हाइपीरियन" में कीट्स ने लिखा था कि संसार में सत्य और सुन्दर का विकासक्रम चलता जाता है। सैटर्न सुन्दर है,

परन्तु उस से भी अधिक सुन्दर अपोलो है और वह उस के स्थान पर शासन करता है। अपोलो की सुन्दरता ज्ञानरूप है। वह अन्धकार से पीड़ित इधर-उधर भटका करता है, अन्त में उसे म्नेमोसाइन के दर्शन होते हैं और उस का अज्ञान दूर होता है। तभी उसे पूर्ण सौन्दर्य की भी प्राप्ति होती है। कीट्स ने स्पष्ट न किया था कि इस ज्ञान-लाभ का रहस्य क्या था। "फॉल" में मोनेटा इस कमी को पूरा करती है।

मोनेटा के दर्शन से कीट्स को नवीन दृष्टि मिलती है। मोनेटा विश्व की चिरन्तन वेदना का एक प्रतीक है। वह सैटर्न की सम-सामयिक है। देवताओं के पुराने वर्ग का पतन उस ने देखा है, परन्तु देवताओं के नष्ट हो जाने पर भी वह स्वप्न में कवि के लिए जीवित है। एकान्त मन्दिर में वह रहती है; उस का काम कीट्स-जैसे कवियों को अपनी शक्ति से वे पुराने दृश्य दिखाना है। अनादि-काल से वह इसी भाँति स्थिर है; उसे दुःख है, परन्तु मृत्यु उस का अन्त नहीं कर सकती। वेदना की वह अमर प्रतिमा है, जिस के दर्शन से मनुष्य को विश्व के इतिहास का ज्ञान होता है। वह मानव के अनुभवों का सार है; वह स्मृति की देवी है और उस के मस्तक में सभी पुराने अनुभव सुरक्षित हैं। ये अनुभव वेदना-प्रधान हैं, इसलिए मोनेटा का मुख क्लांत है, उस की पलकें आधी झँपी हुई हैं और दृष्टि में शून्य है। उस वेदना में दूसरों के लिए भय है; साथ ही उन्हें सांत्वना देने की शक्ति है। इसीलिए साहस कर के कीट्स और आगे पूछताछ करता है। स वेदना-मूर्ति के दर्शन करने पर कवि को एक नई दृष्टि मिलती है, जिस से वह वाह्य आकार के साथ वस्तु की आत्मा को भी देख सकता है। कीट्स के अनुभव का यह निचोड़ है। बाह्य दर्शन से ही ज्ञान की इति नहीं है, वस्तुओं के अन्तर में प्रवेश करने की जरूरत है। बिना इस अन्तर्दृष्टि के मनुष्य को सत्य नहीं मिल सकता। वह इन्द्रियसुख में मग्न उसी प्रकार सो जायगा, जैसे कीट्स कुञ्ज में फल खा कर सो

गया था। आदर्श जीवन त्याग और करुणा का है। मनुष्य संसार की वेदना का अनुभव करे और सत्य तक पहुँचे। कवि इसी प्रकार मोनेटा के दर्शन से अन्तर्दृष्टि पाता है।

इसी सत्य का कीट्स ने "Fall of Hyperion" में प्रतिपादन किया है। वह अपूर्ण है परन्तु उस का आदर्श स्पष्ट है। यह त्याग और करुणा का आदर्श भारतीय भाव-धारा के कितना निकट है, यह सहज बोधगम्य है। अपनी पूर्व कविताओं में उस को इतने अच्छे ढंग से कीट्स ने प्रतिपादित न किया था। लोगों में अब भी भ्रम है कि कीट्स ऐन्द्रिय सुख का उपासकमात्र सौन्दर्यप्रेमी था। वे देखें कि सुन्दर सत्य ही है और वह विश्व की आत्मा, चिरन्तन वेदना का दर्शन करने पर ही अनुभूत होता है। कीट्स की महत्ता इस में है कि वह इस वेदना के लिए इतनी सुन्दर प्रतीक-मूर्ति निर्मित कर सका है। चिरमरण में तत्पर रहने पर भी, मृत्यु उस देवी के लिए नहीं है। और उस की आँखें—

In blank splendeur beam'd,
like the mild moon,
Who comforts these she sees not, who knows, not
What eyes are upward cast.

—अगस्त, १६३८

१५

* *

विश्वशान्ति और अमरीकी लेखक

अमरीका से निकलनेवाले अखबार और पत्र-पत्रिकाएँ दुनिया के कोने-कोने में पहुँच रहे हैं। 'लाइफ' जैसी सुंदर सचित्र पत्रिकाएँ शब्दों की अधिक सहायता न ले कर अपने चित्रों से पाठकों को सब सिखा-पढ़ा देती हैं। इन अखबारों और पत्रों को देखने से ऐसा मालूम होगा कि शत-प्रतिशत अमरीकी जनता प्रतिक्रियावादियों के साथ है। ऐसा लगेगा कि मार्शल-योजना और ट्रूमन-सिद्धांत के खिलाफ आवाज उठानेवाले सिर्फ एक दो सनकी लोग हैं जिन के नाम 'प्रेस स्वाधीनता' की वजह से अखबारों में आ जाते हैं। इस में सन्देह नहीं कि अमरीकी प्रेस पर बड़े-बड़े पूंजीपतियों का कब्जा है। हर्स्ट, फोर्ड, मैकार्निक जैसे करोड़पति एक अखबार नहीं, बल्कि पाँत-के-पाँत अखबार अपने कब्जे में कर रहे हैं। कुछ उदारपंथी कहलानेवाले अखबार भी प्रेस की इस गुलामी से बरी नहीं हैं, पिछले साल जब गारहार्ट आइजलर का मुकदमा चला था, तब उस की पूरी रिपोर्ट तमाम अखबार दबा गए थे। 'नेशन', 'न्यू रिपब्लिक',

और 'पी० ऐम' जैसे अखबार भी इस मामले में खामोश रहे थे। सिर्फ कम्युनिस्ट पार्टी का चलाया हुआ 'न्यु मासेज' ही एक ऐसा पर्चा था जिस ने मुकदमें की कार्यवाही छापी थी।

बावजूद इस बात के कि पूंजीपतियों ने प्रेस पर कब्जा कर रखा है और बुकसेलर प्रगतिशील साहित्य पर 'बैन' सा लगाये हुए हैं, जनवादी कलाकारों, पत्रकारों और बुद्धिजीवियों की आवाज को दबाया नहीं जा सका। अमरीका के लेखक और कलाकार नागरिक स्वाधीनता और जनतंत्र के लिए शानदार लड़ाई लड़ रहे हैं। उन की इस लड़ाई के बारे में—जो दुनिया की साम्राज्य-विरोधी लड़ाई का एक हिस्सा है—हम यहाँ कुछ तथ्य पेश करते हैं।

'मासेज एंड मेनस्ट्रीम' नाम की पत्रिका ने मार्च १९४८ के अंक में अमरीकी पूंजीवाद पर यह कड़ी टिप्पणी छापी है :—

'जनतंत्र का सहायक अमरीका विश्व-प्रतिक्रियावाद का सहायक बन बैठा है। च्याङ्ग काई शेक और मुफ्ती से ले कर आल्दारिस और दिगोल तक हर गुंडे की मदद के लिए वह तैयार है। साहूकारों और फौजियों की यह हेकड़ सरकार दुनिया पर कब्जा करने की नीति पर चल रही है। इस नीति से रिपब्लिकन और डिमौक्रैटिक दोनों पार्टियाँ सहमत हैं। सोवियत संघ और नये जनतंत्रों के खिलाफ युद्ध की तैयारी इतनी आगे बढ़ गई है कि मक्कारी से उसे छिपाया नहीं जा सकता। एक ढहते हुए पूंजीवाद के हुक्मराँ नये दाँवघातों पर बाज़ी लगा रहे हैं। आज़ाद इन्सानों के देश को वे आखेट का जंगल बना रहे हैं जहाँ 'एफ० बी० आई०' गेस्टापो की जगह ले लेती है और गैर-अमरीकी कमेटी 'माइन काम्फ' की कम्यु-निस्ट विरोधी कसौटी पर विचारों की जाँच करती है।

'अमरीकी जनता और दूसरे देशों के शान्तिप्रेमी लोगों के खिलाफ वालस्ट्रीट की इस लड़ाई में हमारी पत्रिका अपनी जिम्मेदारी समझती है। हम विरोध करेंगे। हम डटकर लड़ेंगे। हेनरी वैलेस की अगुवाई में तीसरी पार्टी के आन्दोलन के चारों ओर जो लाखों

आदमी एकत्र हो रहे हैं, उन के साथ अपने देश के लिये शान्ति और आज़ादी पाने के लिये हम भी अपना फर्ज अदा करेंगे ।'

इन पंक्तियों से ज़ाहिर है कि पूंजी की ताकत जनतंत्र की आत्मा को खरीद नहीं पाई। अमरीका में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो हिम्मत और दिलेरी से फासिज़्म के हमले का मुकाबला करते हैं और खम ठोक कर उसे ललकारते भी हैं।

पोल रोबसन का नाम कौन नहीं जानता ? अमरीका में कोई ऐसा बच्चा-बूढ़ा-जवान न होगा जो उन के संगीत पर मुग्ध न हुआ हो। अमरीका ही क्या, समूचे पश्चिमी संसार में उन के जोड़ का दूसरा कलाकार नहीं है। पोल रोबसन एक नीग्रो हैं। इसलिये अमरीकी जनतंत्र की अस्लियत का उन्हें अच्छी तरह पता है। शायद यही कारण है कि उनके गीतों में इतना दर्द है—खास तौर से उन गीतों में जिन का सम्बन्ध नीग्रो जीवन से है। अंग्रेज कवि ब्लेक ने 'काले लड़के' पर एक गीत लिखा है और ऐसा लिखा है मानो रोबसन के गाने के लिये ही उसे लिखा हो। जिन्होंने रोबसन को उसे गाते सुना होगा, उन्हों ने उस कलाकार के अगाध मानव-प्रेम का अनुभव किया होगा।

पोल रोबसन एक अत्यंत सुसंकृत और सुपठित व्यक्ति हैं। वह योरप की प्रायः सभी भाषाओं के जानकार हैं और वहाँ के गीत वहीं की भाषा में गाते हैं। वह रूसी भाषा के जानकार भी हैं और भाषा-विज्ञान में दिलचस्पी होने के कारण रूसी भाषा-वैज्ञानिक निकोलाई मार और मेश्चानिनोव के ग्रंथ मूल में पढ़ चुके हैं। लेकिन इस सब संस्कृति और विद्वत्ता की क़द्र अमरीकी पूंजीवाद की नज़रों में कुछ नहीं है। वह तो सिर्फ गुलाम कलाकारों को पसन्द करता है जो उस की चाकरी बजाते रहें। इसलिये गैर-अमरीकी कमेटी ने रोबसन से भी जवाब तलब किया—'तुम अमरीकी हो या नहीं ?'

विश्व का यह महान कलाकार उन्हें गैर-अमरीकी जँचा !

पोल रोबसन ने इस बात को नागरिक स्वाधीनता के खिलाफ़ समझा कि कोई उन से उन के राजनीतिक विचारों के बारे में सवाल-जवाब करे। उन्हों ने जवाब देने से साफ इन्कार कर दिया और कहा कि अगर आप की कांग्रेस की इस से तौहीन होती हो, तो आप मुझे भी जेल में डाल सकते हैं। जहाँ १९ लेखक और कलाकार जेल गये हैं, वहाँ २०वाँ मैं भी जा सकता हूँ।

कम्युनिस्ट पार्टी के लिए पोल रोबसन ने कहा—'नीग्रो-स्वाधीनता के लिए जितना कम्युनिस्ट पार्टी ने किया है, उतना और किसी ने नहीं किया।'

पोल रोबसन अपनी कला का उपयोग जनवादी आन्दोलन को बढ़ाने में करते हैं। वैलेस के साथ वे बड़ी-बड़ी सभाओं में अपने गीत सुनाते हैं। जनता की भीड़ उन का संगीतमय सन्देश सुनने के लिए खिंची चली आती है।

पूँजीवाद के हाथों बिका हुआ आदमी कितना नीचा गिर सकता है, इस की एक मिसाल भी इसी सिलसिले में देख लीजिये। गैर-अमरीकी कमेटी के एक सदस्य निक्सन ने अडोल्फ् मेन्जू नामक 'कलाकार' से पूछा—'कम्युनिस्ट की पहचान क्या है?'

इन 'कलाकार' महाशय ने जवाब दिया—'जब पोल रोबसन गाता हो और जो लोग उसके गीतों को सुनते और दाद देते हों, उन्हीं को कम्युनिस्ट समझना चाहिये।' (न्यूमासेज़—१८ नवंबर, '४७)।

इस से ज़ाहिर है कि पूँजीपति और उन के पिट्ठू 'कलाकार' पोल रोबसन के संगीत से कितना भय खाते हैं।

पोल रोबसन ने ग़ैर अमरीकी जाँच-कमेटी को वे मुंहतोड़ जवाब दिये कि कमेटी के मेम्बर बगलें झाँकते ही दिखाई दिये। कम्युनिस्ट विरोधी कानून के बारे में उन से पूछा गया, तो उन्हों ने कहा—'यह फासिस्ट कानून है और मैं इसे कभी न मानूंगा।'

उन की इस बात पर जनता ने करतल-ध्वनि की।

गैर-अमरीकी कमेटी ने रूस में नागरिक-स्वाधीनता के बारे में सवाल किया। पोल रोबसन रूस घूम आये थे और अपनी आँखों से वहाँ की हकीक़त देख-सुन आये थे। उन्होंने गर्व से जवाब दिया—'वहाँ मैं जिन्दगी में पहली बार पूरे आत्मसम्मान के साथ ज़मीन पर चल सका!'

अमरीका में नीग्रो जाति का जैसा अपमान होता है, वह किसी से छिपा नहीं है। पोल रोबसन ने रूस में जब सच्ची मानव-समानता देखी, तो उन्हें दोनों देशों में ज़मीन-आसमान का फर्क दिखाई दिया।

उन से पूछा गया—'क्या अमरीकी कम्युनिस्ट रूस के अधीन हैं?'

रोबसन ने उलट कर जवाब दिया—'उतने नहीं जितने कुछ अमरीकी फासिस्ट यूनान के हैं!'

अपने फासिस्ट-प्रेम का यों पर्दा-फाश होते देख कर गैर-अमरीकी कमेटी के सदस्य तिलमिला उठे। मूर नामक सेनेटर ने खिसिया कर पत्रकारों से कहा—'मालूम होता है पोल रोबसन शहीद होना चाहता है। इस में हम उस की मदद क्यों न करें। साल भर जेल की हवा खाने पर ऐसे लोगों का दिमाग ठीक हो जाता है।'

अमरीकी फासिज़्म आज ऐसा ही निर्लज्ज हो गया है। वह धमका कर, घुड़क कर, जेल भेज कर, जुर्माना कर के कलाकारों के फासिस्ट-विरोध को खत्म कर देना चाहता है। लेकिन गला फाड़ कर विचार-स्वाधीनता का राग अलापने से बाज नहीं आता!

रोबसन के समान हान्स आइजलर भी एक ऊँचे दर्जे के संगीत-विशेषज्ञ हैं। वह न्यूयार्क में संगीत के प्रोफेसर रह चुके हैं और हालीवुड के दर्जनों फिल्मों में संगीत-रचना कर चुके हैं। फिल्म-संगीत पर खोज करने के लिए उन्हें राकफेलर-इन्स्टीटयूट से एक भारी रकम दी गयी थी। गैर-अमरीकी जाँच कमेटी ने जब इन पर भी कृपा की, तो अमरीका के सात बड़े-बड़े संगीतकारों ने न्यूयार्क

के टाउनहाल में आइजलर के संगीत का प्रोग्राम रख कर प्रतिक्रिया-वादियों को चुनौती दी कि लो, जिस संगीत को तुम इतना खतर-नाक समझते हो, उसी को हम सुनते हैं। २८ फरवरी १९४८ को बड़ी शान से वह संगीत-समारोह मनाया गया।

आइजलर को खतरनाक समझ कर पहले हिटलर ने देश निकाले की आज्ञा दी थी; इस बार हिटलरवाद के उत्तराधिकारी ट्रूमेन ने उन्हें वही सजा सुनाई।

हान्स के भाई गेरार्ट आइज़लर प्रसिद्ध कम्युनिस्ट हैं। हान्स पर यह दोष लगाया गया है कि वह अपने भाई को प्यार करते हैं। इस का जिक्र हान्स ने अपनी एक कविता में बड़े मार्मिक ढंग से किया है। उन्होंने लिखा है—

'वे कहते हैं—तू गरीबों का हिमायती है !
(मैं गरीबों में पैदा हुआ हूँ !)
वे कहते हैं—तू दमन से नफरत करता है !
(मैं खुद सताया हुआ हूँ !)
वे कहते हैं—तू हमारे महायुद्धों से घृणा करता है !
(मैं उन की लड़ाइयाँ लड़ चुका हूँ और जन-संहार देख चुका हूँ !)
उन्हों ने बड़ी नफरत से अपनी उँगली मेरी तरफ उठाई और कहा—
तू अपने भाई को प्यार करता है ! और उन्हों ने कहा—तू गैर है; हमें तेरी ज़रूरत नहीं। और उन्हों ने मुझे पकड़ लिया।'

आइज़लर के सीधे-सादे शब्द दिल पर चोट करनेवाले हैं। हर शब्द अमरीकी पूंजीवाद की असलियत ज़ाहिर करता है, जो इन्सानियत से इतना गिर गया है कि भाई को भाई से प्यार करने की इजाज़त भी नहीं देता।

हिटलर ने जैसे हान्स आइज़लर को देश से निकाल दिया था, वैसे ही विख्यात उपन्यासकार टॉमस को भी स्वदेश छोड़ना पड़ा था। उन से पूछा गया कि हालीवुड की फिल्में कम्युनिस्ट प्रचार करती हैं या नहीं। टॉमस मन ने जो उत्तर दिया, उस से ज़ाहिर

हो गया कि ट्रूमन और मार्शल किस के चरण-चिह्नों पर चल रहे हैं। टॉमस मन ने कहा--

'मुझे एक विरोधी गवाह के रूप में पेश होने का सम्मान प्राप्त है। मुझे चित्रपट के धन्धे से बहुत दिलचस्पी है और ६ साल पहले जब मैं अमरीका आया था, तब से मैं ने बहुत से हालीवुड के चित्र देखे हैं। अगर उन में कहीं कम्युनिस्ट प्रोपेगैंडा ठूँसा गया है तो उसे बहुत चालाकी से छिपाया गया है। मुझे तो वह कहीं मिला नहीं।

'मेरा कहना है कि जिस आर्थिक और राजनीतिक सिद्धान्त को संसार के महान् मस्तिष्कों और विचारकों ने निकाला है और जिसके अनुयायी सारी दुनिया में हैं, उस सिद्धान्त में विश्वास करने वालों का इस अज्ञान और अन्धविश्वास के साथ दमन करना दमन-कारियों को ज़लील करता है और इस के साथ सांस्कृतिक क्षेत्र में इस देश की बहुत बड़ी बदनामी भी करता है।

'मेरा जन्म जर्मनी में हुआ था, लेकिन अब मैं एक अमरीकी नाग-रिक हूँ। मेरा कहना है कि मुझे कुछ राजनीतिक प्रवृत्तियों का कटु अनुभव है। दूसरे के विचारों के प्रति असहनशीलता, राजनीति में खोज-खोज कर विरोधियों का दमन और क़ानून को उठा कर ताक पर रख देना इन प्रवृत्तियों का अंग है। यह सब असाधारण परि-स्थिति (state of emergency) के नाम पर किया जाता है। जर्मनी में इसी तरह शुरुआत हुई थी। उस के बाद जो कुछ हुआ वह फ़ासिज्म था। और फासिज्म के बाद आया महायुद्ध।'

रेडियो पर अनेक कलाकारों ने 'हालीवुड फाइट्स बैक' नाम की व्याख्यान-माला में हिस्सा लेते हुए कला और संस्कृति पर फासिस्ट नियंत्रण का विरोध किया। उसी में हिस्सा लेते हुए टॉमस मन ने ऊपर की बातें कही थीं। हिन्दुस्तान के लिए भी ये बातें महत्वपूर्ण हैं क्योंकि यहाँ पर भी जन-सुरक्षा के नाम पर कानून को उठा कर ताक पर रख दिया है। इस दमन का नतीजा फासिज़्म और युद्ध के अलावा और कुछ नहीं हो सकता।

फिल्मी जगत् के पूँजीपतियों के विशेष सलाहकार अमरीका के भूतपूर्व वैदेशिक मन्त्री बायर्न्स महोदय हैं। राजनीति के साथ वे कला के भी विशेषज्ञ हैं क्योंकि फिल्म-कला को पूँजीवाद की चेरी बनना है। इसलिए अगर कोई फिल्म-कथा-लेखक किसी पूँजीपति को खल-पात्र बना देता है तो वह कम्युनिस्ट समझा जाता है। 'दि स्ट्रेंज लव ऑफ मार्था ईवर्स' नाम की फिल्म का राजनीतिक से कोई संबंध नहीं है, लेकिन उस में एक उद्योगपति खलनायक है, इसलिए सरकार की कोपदृष्टि उस पर भी पड़ी है।

अमरीका के एक अत्यन्त लोकप्रिय लेखक हॉवर्ड फास्ट हैं। उन के उपन्यास लाखों की संख्या में बिक चुके हैं जो अमरीका के लिए एक नयी चीज थी। युद्धकाल में नीग्रो समस्या पर लिखा उन का ऐतिहासिक उपन्यास 'फ्रीडम रोड' फौज के सिपाहियों के लिए सस्ते पाकेट-एडिशन के रूप में छपा था और हजारों-लाखों की तादाद में बिका भी था। लेकिन युद्ध के बाद उन की रचनाएँ खतरनाक समझी जाने लगी हैं। उन का ऐतिहासिक उपन्यास 'सिटिज़न टॉम पैन' ज़ब्त कर लिया गया है। हावर्ड फास्ट का नया उपन्यास 'क्लार्कटन' अमरीकी मज़दूर आन्दोलन का सजीव चित्र उपस्थित करता है। उस में दिखाया गया है कि किस तहर मज़दूर-आन्दोलन काली-गोरी चमड़ी का भेद न कर के सब मेहनतकशों को एक जगह इकट्ठा करता है और यह एकता कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में प्रकट होती है। अमरीका का शासक-वर्ग इस उपन्यास से परेशान है। उस ने फिल्म-निर्माताओं को हिदायत कर दी है कि 'क्लार्कटन' का फिल्म न बनायें। बुकसेलरों को इशारा किया गया है कि उसे दूकानों में न रखें। लेकिन फास्ट की रचनाओं की लोकप्रियता बढ़ती ही जाती है और वे वैलेस की तीसरी पार्टी के आन्दोलन में एक बहुत बड़ा सहारा हैं।

उपन्यास, कहानी, कविता, चित्र, कार्टून-कला के सभी रूपों का उपयोग फासिज़्म का विरोध करने के लिए और जनवादी आन्दोलन

को बढ़ाने के लिए किया जा रहा है। इन के साथ अर्थ-शास्त्र और राजनीति की सैकड़ों पुस्तकें हैं जो अमरीकी साम्राज्यवाद का पर्दा-फाश करती हैं। जार्ज सेल्डेस ने अपनी किताब 'एक हज़ार अमरीकी' में बताया है कि अमरीका का भाग्य-निर्णय मुट्ठी-भर उद्योगपति और महाजन किया करते हैं। इसी तरह जेम्स ऐलेन की पुस्तक 'विश्व-एकाधिकार और शान्ति' में अमरीकी एकाधिकारियों की युद्ध-नीति का चित्र खींचा गया है। एक भारतवासी कुमार घोषाल की पुस्तक 'उपनिवेशों की जनता' का ज़िक्र कर देना भी उचित होगा, जिस में साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक गुलामी का गठबन्धन दिखाया गया है। इस तरह अमरीकी लेखकों के इस जवाबी हमले में हिन्दुस्तानी लेखक भी शामिल हैं।

अन्त में हम 'अमरीका के प्रगतिशील नागरिक' नाम की संस्था के उस मुखपत्र का जिक्र करेंगे जो वैलेस की शान्तिप्रेमी नीति के लिए आन्दोलन कर रहा है। यह संस्था १९४६ में बनी थी और दिन पर दिन उस का काम बढ़ता जा रहा है। मज़दूरों के बहुत से बड़े-बड़े यूनियनों का भी उसे सहयोग प्राप्त है। इस संस्था के मुखपत्र 'प्रगतिशील नागरिक' (प्रोग्रेसिव सिटिजन) ने लिखा था—

'हम सब लोगों के लिए मौका है कि युद्ध और पतन की तरफ इस रफ्तार को रोकें और संसार की जनता को यह जता दें कि ऐसे लाखों आदमी मौजूद हैं जो शान्ति चाहते हैं और अपने देश को फिर जनतंत्र की राह पर चलाना चाहते हैं।'

निःस्सन्देह अमरीका का भविष्य ऐसे ही जनवादी नागरिकों के हाथ में है और उन की विजय निश्चित है।

—जून, १९४८

१६

* *

हिन्दी-उर्दू समस्या पर ज़ोर-जबर्दस्ती या समझौते की बातचीत ?

अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति का तनाव दूर करने के लिये शान्ति-प्रेमी जनता जोर-जबर्दस्ती का प्रयोग करने के बदले समझौते की बातचीत चलाने का रास्ता पसंद करती है। भारतीय शान्ति-आन्दोलन के नेताओं ने भी तीसरे महायुद्ध की तैयारियाँ रोकने के लिए समझौते की बातचीत चलाने पर जोर दिया है।

मेरा विचार है, हिन्दी-उर्दू समस्या को ले कर जो तनाव पैदा किया गया है, उसे दूर करने के लिये भी समझौते की बातचीत चलाना—और छुरेबाजी को प्रोत्साहन न देना श्रेयस्कर हो सकता है।

पिछले दिनों उर्दू-प्रेमियों की तरफ से उर्दू को क्षेत्रीय भाषा के रूप में मानने और उस के लिए क्षेत्रीय भाषा के अधिकार माँगने के बारे में आन्दोलन हुआ था। उस आन्दोलन के जवाब में कुछ

हिन्दी-प्रेमियों की तरफ से भी आन्दोलन हुआ और लखनऊ में उर्दू-प्रेमियों के सम्मेलन के अवसर पर एक उर्दू-प्रेमी को एक हिन्दी-प्रेमी ने छुरा मार कर उसे अस्पताल भेज दिया।

आप मानेंगे कि टैंक और ऐटम बम का खतरा न होने पर भी लखनऊ जैसे शान्ति-प्रेमी नगर में यह कांड होना जाहिर करता है कि जैसे अंतर्राष्ट्रीय तनाव दूर करने के लिये बमबाजी का रास्ता बुरा बताया जाता है, वैसे ही भाषा की समस्या हल करने के लिये छुरेबाजी का रास्ता भी बुरा समझा जाना चाहिये।

उसकावा पैदा करनेवाले आन्दोलन अक्सर अर्द्ध-सत्यों को ले कर चलते हैं। इस में शक नहीं कि बहुत से उर्दू-प्रेमियों में सम्प्रदायवादी भी हैं, और पहले भी रहे हैं। लेकिन इस बात को ले कर अर्द्ध-सत्यप्रेमी सज्जन यह नतीजा निकालते हैं कि सभी उर्दूवाले सम्प्रदाय-वादी हैं, उर्दू का जन्म ही सम्प्रदायवाद से हुआ है, पाकिस्तान का जन्म भी उर्दू के कारण हुआ है (भले ही पूर्वी पाकिस्तान के लोग उर्दू को राजभाषा बनाने के खिलाफ लड़े हों) और इसलिए जितना ही जल्दी उर्दू को मिटाया जाय, उतना ही अच्छा!

इस में भी शक नहीं है कि हिन्दी-प्रेमियों में बहुत से सम्प्रदायवादी हैं और पहले भी रहे हैं। लेकिन इस बात से उर्दू-खेमे के अर्द्ध-सत्यप्रेमी यह नतीजा निकालते हैं कि सभी हिन्दी-प्रेमी सम्प्रदायवादी हैं, हिन्दी का जन्म ही सम्प्रदायवाद से उर्दू के मीठे सरल शब्दों को निकाल कर उन की जगह संस्कृत के कंकड़-पत्थर भर कर हुआ है और हिन्दी को बिहार या उत्तर प्रदेश की राजभाषा बना दिया गया है और यह हिन्दी-प्रेमियों की साम्प्रदायिकता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

इसी तरह हिन्दी-खेमे के अर्द्ध-सत्यप्रेमी उर्दू-विरोध को राष्ट्रीयता की पहली शर्त मानते हैं। यह उर्दू-विरोध जल्द ही मुस्लिम-विरोध का रूप ले लेता है और फिर उकसावा पैदा करनेवाली "दलीलें" दी जाती हैं जिन्हें सुन कर मालूम होने लगता है कि जनता की

भुखमरी, अशिक्षा, अकाल और महामारी का एकमात्र कारण उर्दू है !

उधर उर्दू-खेमे के अर्द्ध-सत्य-प्रेमी उर्दू को हिन्दी से और दूर खींच कर, हिन्दुस्तानी जनता के सांस्कृतिक इतिहास से और दूर ले जा कर, इस्लाम से उर्दू का संबंध अपनी समझ में और पक्का कर के, अलगाव की भावना को और मजबूत करते हैं। समूची हिन्दुस्तानी जनता कैसे साक्षर हो कर अपनी मिली-जुली संस्कृति, अपना मिला-जुला लिखित साहित्य आगे बढ़ायेगी; अवधी, ब्रज, बुन्देलखंडी भोजपुरी आदि से हम अपनी भाषा के लिये क्या लेंगे, कैसे उसे सोलह करोड़ के लिये सुलभ बनायेंगे, ये समस्यायें उन के लिये हैं ही नहीं। उल्टा वह किसी महा अश्लील पत्रिका की बिक्री का हवाला देकर पूछेंगे, 'कहिये, आप के यहाँ कोई पत्रिका इतनी बिकती है ?' या अपने बड़प्पन की डींग हाँकेंगे—'हम ने जितना कमाल हासिल किया है उतना किसी ने किया ही नहीं है !'

उर्दू-खेमे के ये अर्द्ध-सत्यप्रेमी आशा और निराशा के बीच झकोले खाते हैं। कभी तो वे उर्दू के अजर-अमर होने की बात सोच कर गद्‌गद हो उठते हैं और कभी उस का विनाश निश्चित समझ कर वैसे ही उदास और परीशान हो जाते हैं।

किसी जिले या सूबे को ध्यान में रख कर हिन्दी-उर्दू की समस्या स्थायी रूप से हल नहीं हो सकती। यह समस्या तभी हल होगी जब हम हिन्दी-प्रेमी और उर्दू-प्रेमी दोनों—समूची हिन्दुस्तानी जाति के राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन की समस्या के संदर्भ में उस पर विचार करेंगे। सवाल यह है कि जैसे तेलगू, मराठी, तामिल या कन्नड़ भाषाएँ बोलनेवाले अपने-अपने प्रदेश में अपना राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन करने के लिये उठ खड़े हुए हैं या उठ खड़े हो रहे हैं, वैसे ही क्या हिन्दुस्तानी लोग भी मुगल और ब्रिटिश राज के अपने अलगाव को खत्म कर के एक जातीय प्रदेश में अपने राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन के लिये उठेंगे ? या

वे अपनी सामान्य समस्याएँ अलग-अलग अपने जिलों और सूबों में ही उलझाते सुलझाते रहेंगे ?

अभी पिछले दिनों भाषावार प्रान्त बनाने के सिलसिले में जो सम्मेलन हुआ, उस में और भाषाओं के प्रतिनिधियों ने तो अपने जातीय इलाकों के पुनर्गठन की बात उठाई लेकिन हिन्दुस्तानी प्रदेश का सवाल वहाँ उठा ही नहीं। इस का सबब यह है कि हिन्दुस्तानी जनता का प्रदेश और जातियों के प्रदेश से कहीं ज्यादा बड़ा है, उन से ज्यादा बंटा हुआ है, यहाँ की जातीय चेतना को—कभी हिन्दी-उर्दू विवाद से, कभी भोजपुरी या मैथिली प्रान्त के आन्दोलन से, कभी बिहारी-बंगाली फसाद से सही रूप में विकसित होने नहीं दिया गया।

हिन्दी-उर्दू समस्या को ले कर जो लोग साम्प्रदायिक प्रचार करते हैं, वे हिन्दुस्तानी जनता की जातीय चेतना पर सब से पहले प्रहार करते हैं।

हिन्दी-उर्दू के अर्द्ध-सत्यप्रेमी हिन्दुस्तानी जाति के प्रदेश का सवाल, उस के राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन का सवाल नहीं उठाते, यह बात आकस्मिक नहीं है। वे सारे हिन्दुस्तान में हिन्दी फैलाने के लिये कटिबद्ध हैं, लेकिन जब दक्षिण के लोग उनसे पूछते हैं—हिन्दी किस प्रदेश की भाषा है, तो वे बगलें झाँकन लगते हैं।

यह बात आकस्मिक नहीं है कि हिन्दी-खेमे के कुछ अर्द्ध-सत्य-प्रेमी हिन्दुस्तानी जाति के इलाके को 'बोलियों' के आधार पर ग्यारह हिस्सों में बाँट देने का प्रचार करते हैं। भाषा के 'आधार' पर वे प्रान्त-निर्माण की बात नहीं करते वरन् 'बोली' के आधार पर एक जातीय प्रदेश के बहुत से टुकड़े करने की बात करते हैं।

समूचे हिन्दुस्तानी प्रदेश को ध्यान में रखते हुए हिन्दी-उर्दू समस्या पर विचार किया जाय, तो ये परिणाम निकलते हैं :—

१—जहाँ तक साधारण जनता की बोलचाल का सम्बन्ध है, हिन्दी, उर्दू का कोई भेद नहीं है।

२—हिन्दी-उर्दू का भेद लिखित भाषा के सिलसिले में उठता है।

३—उर्दू को लिखित भाषा के रूप में काम में लानेवाले लोग आम तौर से सम्प्रदायवादी नहीं हैं। वास्तव में कुछ हिन्दू सम्प्रदायवादी भी लिखित भाषा के रूप में उर्दू का प्रयोग करते हैं। उर्दू का प्रयोग करनेवाले सब मुसलमान ही नहीं, गैर-मुसलमान भी हैं।

४—लिखित भाषा के लिये जो लोग हिन्दी का प्रयोग करते हैं, उन की संख्या उर्दू का प्रयोग करनेवालों से ज्यादा है। इस से नतीजा यह निकलता है कि हिन्दुस्तानी प्रदेश में एक 'सांस्कृतिक अल्पमत' लिखित उर्दू का प्रयोग करता है।

५—व्यवहार में इस सांस्कृतिक अल्पमत की जरूरतों का ध्यान रखा जाता रहा है, जैसे फिल्मों में हिन्दी लिपि के साथ उर्दू का प्रयोग, अनेक गैर साम्प्रदायिक संगठनों का उर्दू पत्र निकालना (जिनमें कम्यनिस्ट पार्ती भी शामिल है)।

हिन्दी खेमे के अर्द्ध-सत्यप्रेमी यह मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि उर्दू एक सांस्कृतिक अल्पमत के काम में आनेवाली लिखित भाषा है। वे इस सत्य को दोहरा कर कि जनता की भाषा यानी 'बोलचाल की भाषा' एक है, इस बात से इन्कार करते हैं कि लिखित भाषा में आज भेद है और उर्दू एक सांस्कृतिक अल्पमत की जरूरतें पूरा करती हैं।

इसलिए वे हिन्दी को राजभाषा बना कर उर्दू के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहते हैं जिससे लिखित भाषा के एकीकरण का सवाल एक दूसरे से सीख कर, कुछ आपस में आदान-प्रदान करके हल न हो, बल्कि एक लिखित रूप को दबा कर हो।

उर्दू-खेमे के अर्द्ध-सत्यप्रेमी यह मानने से इनकार करते हैं कि समूचे हिन्दुस्तानी प्रदेश में उर्दू का व्यवहार एक लिखित भाषा के रूप में एक सांस्कृतिक अल्पमत करता है। वे यह मानने से इन्कार करते हैं कि सवाल सांस्कृतिक अल्पमत की लिखित भाषा की रक्षा करने, उसके उपयोग की सुविधाएँ देने का है। वे कभी राजकाज

के लिये दोनों लिपियों के चलन की बात कहते हैं, कभी उसे क्षेत्रीय भाषा मान कर उस के लिए दिल्ली, भोपाल और लखनऊ का 'क्षेत्र' ढूँढ़ने लगते हैं।

उर्दू-खेमे के ये दोस्त हकीकत पहचानने में गलती करते हैं, जिस से हिन्दी-खेमे के सम्प्रदायवादी ही मजबूत होते हैं, उर्दू की रक्षा और उसके व्यवहार की सुविधा देने का असली प्रश्न टल जाता है।

लिखित भाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग हमारे प्रदेश के बहुसंख्यक लोग करते हैं। इसलिए उन की जिम्मेदारी सब से ज्यादा है कि एक ही लिखित भाषा के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार करने में मदद दें। इस काम में एक बाधा यह प्रचार है कि लिखित भाषा के रूप में उर्दू को दबाने से हमारी भाषा-समस्या सुलझ जायगी। जो लोग इस तरह का प्रचार करते हैं, वे अर्द्ध-सत्य का सहारा ले कर लिखित उर्दू के सामन्ती साहित्य, उस की ईरानी परंपराओं का हवाला तो देते हैं लेकिन लिखित उर्दू के जनवादी और लोकप्रिय साहित्य के बारे में खामोश रहते हैं या सरासर झूठा प्रचार करते हैं।

सन् '४७ के बाद हिन्दी-खेमे के सम्प्रदायवादियों ने नये सिरे से जोर मारा है। राजनीतिक जीवन से उखड़ होने पर कुछ सज्जन भाषा को ले कर सम्प्रदायवाद का प्रचार करने लगे। कुछ मित्रों को यह भ्रम है कि ऐसे लोग केवल भाषा के मामले में सम्प्रदायवादी हैं, बाकी मामलों में असाम्प्रदायिक और जनवादी हैं।

इस तरह की धारणा बनाते हुए बहुत सतर्क रहना जरूरी है।

सन् '४७ में—भारत-विभाजन के बाद—राहुल जी ने हिन्दी-उर्दू समस्या के सिलसिले में ही कहा था—

"इस्लाम को भारतीय बनना चाहियें—उन का भारतीयता के प्रति यह विद्वेष सदियों से चला आया है सही, किन्तु नवीन भारत में कोई भी धर्म भारतीयता को पूर्णतया स्वीकार किये बिना फल-फूल नहीं सकता।"

बात थी उर्दू की, नतीजा निकला कि "उनका भारतीयता के प्रति यह विद्वेष सदियों से चला आया है", यानी मुसलमान मूलतः राष्ट्र विरोधी हैं।

और "आज की राजनीति" (१९५०) में राहुल जी ने हिन्दी-उर्दू समस्या के सिलसिले में ही लिखा था—

"इस्लाम ने जो भी कहा हो, किन्तु मुसलमानों ने अपने को देश की धारा का अंग मानने से सदा इन्कार किया।"

बात थी उर्दू की, नतीजा निकला कि मुसलमानों ने अपने को इस देश की धारा का अंग ही न समझा!

और भी, उसी पुस्तक में राहुल जी कहते हैं—

"इस्लाम का भारतीयकरण करना ही हितकर होगा। मौलाना आजाद की यह मनोवृत्ति यदि भारतीय मुसलमानों में रही, तो उन की भक्ति तथा सहानुभूति हमेशा भारत की अपेक्षा पाकिस्तान के साथ रहेगी। यह भावना भारतीय मुसलमानों को छिपा पंचमांगी बना के छोड़ेगी।"

यदि मुसलमान पंचमांगी बन रहे हैं, तो उनके साथ व्यवहार भी वही होगा जो देशद्रोहियों के साथ होता है! हिन्दू-मुस्लिम दंगे कराने के लिये इस से ज्यादा क्या कहा जा सकता है? आप कहेंगे, यह तो भाषा सम्बन्धी मनोवृत्ति को ले कर लिखा गया है।

मान लिया, भाषा-सम्बन्धी मनोवृत्ति को ले कर लिखा गया है, लेकिन इस किताब में युधिष्ठिर नाम का पात्र—जो राहुल उवाच की जगह सूत्रधार का काम करता है—कहता है: "आप कुरान को उठा कर किसी धर्म के प्रमुख ग्रन्थ से मिला के देख लीजिये, वह हर तरह से निम्नकोटि का जँचेगा।"

अब आप पता लगाइये, कि दुनिया के तमाम मुसलमानों के धर्म-ग्रन्थ से हिन्दी-उर्दू समस्या का क्या सम्बन्ध है!

कुछ मित्रों का विचार है कि राहुल उवाच की जगह युधिष्ठिर नहीं, "वामपक्षी" महीप सूत्रधार का काम करता है। तो महीप की

बात सुन लीजिये। कहता है—"मैं तो समझता हूँ, एक बार शस्त्र-परीक्षा अच्छी तरह हुए बिना पाकिस्तान की अकल ठिकाने नहीं आयेगी!"

देखिये, राहुल जी का "केवल भाषा के सवाल पर संप्रदायवादी होना अकल ठीक करने के कैसे सुन्दर नतीजे तक पहुँचता है!"

हमारे अनेक शुभ विचार रखनेवाले भाइयों ने राहुल जी का विरोध करना तो दूर, उन की पीठ थपथपाई कि आप वास्तव में प्रगतिशील विचारक हैं! उन का ख्याल था कि राहुल जी का पर्दा-फाश करने से "संयुक्त मोर्चा" टूट जायगा (राहुल जी की नीति से उन्हें संयुक्त मोर्चे के लिये कोई भय न था!), इसलिए कभी तो वे उनके "भाषासम्बन्धी" प्रचार को "आदर्श" कहते रहे, कभी चुप रहे और कभी घेरे जाने पर बोले कि राहुल को सम्प्रदायवादी कहने से क्या होता है, सभी हिन्दी लेखक वैसा ही सोचते हैं!!!

इस अवसरवादी नीति को, साम्प्रदायिकता को, तरह देने का नतीजा यह हुआ कि राहुल जी के चरणचिन्हों पर चलनवाले और "प्रगतिशील" लेखक भी आगे आ रहे हैं।

उत्तर प्रदेश में उर्दू को क्षेत्रीय भाषा बनाने के आन्दोलन के सिलसिले में "उत्तर प्रदेश भाषा समिति लखनऊ' ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी और उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमिटी के अध्यक्षों के नाम एक आवेदन-पत्र छपवाया था। इस में कहा गया था:

"हम इस प्रदेश की भाषा के बँटवारे और भाषा को बाँट कर जनता में फूट डालने की विषैली साम्प्रदायिक नीति का घोर विरोध करते हैं। यह प्रवृत्ति जन-विरोधी, राष्ट्रीयता-विरोधी और देशद्रोही है।"

जब कोई प्रवृत्ति "देशद्रोही" करार दी जायगी, तो उस के साथ कसा व्यवहार किया जायगा? आवेदन-पत्र ने ऐसा वातावरण तैयार करने की कोशिश न की जिस में हिन्दी-उर्दू लेखक बैठ कर समस्या पर विचार करते और उसे सुलझाने की कोशिश करते। उर्दू-प्रेमियों

ने क्षेत्रीय भाषा के लिए जैसे हिन्दी लेखकों से सलाह-मशविरा किये बिना आन्दोलन छेड़ दिया था और उर्दू की रक्षा की सही माँग को क्षेत्रीय भाषा की गलत माँग से उलझा दिया था, वैसे ही और उस से पचास कदम आगे बढ़ कर उत्तर प्रदेश भाषा समिति ने इन उर्दू-प्रेमियों की कोशिश को देश-द्रोह करार दे दिया !

इस से खुले संप्रदायवादियों ने फायदा उठाया और छुरेबाजी के लिये वातावरण पैदा कर लिया।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की तरह भाषा-सम्बन्धी मामलों में भी उकसावे की नीति के बदले सुलह-समझौते की बातचीत चलाना क्यों जरूरी है।

आवेदन-पत्र पर भाषा समिति के मन्त्री की हैसियत से सुप्रसिद्ध प्रगतिशील कलाकार यशपाल के दस्तखत हैं !

यशपाल जी यह अर्द्धसत्य मान कर कि हिन्दुस्तानी जनता की एक भाषा है, उस के दो लिखित रूपों की आज की आवश्यकता को सिर्फ एक लिखित रूप रख कर तुरन्त खत्म कर देना चाहते हैं। उन के विचार से हिन्दी-उर्दू के आदान-प्रदान का सवाल नहीं है। समझा-बुझा कर एक लिपि चलाने का सवाल नहीं है। सवाल है दो में से एक ही रूप रख कर समस्या को हल करने का। हिन्दी-उर्दू की समस्या को जोर-जबर्दस्ती से हल करने का समर्थन करते हुए यशपाल जी कहते हैं:—

"दमन और जब्र बड़े अप्रिय शब्द हैं। हम इन शब्दों को सदा ही अपने विरोधियों के गले मढ़ते हैं। लेकिन किसी भी नियम या अनुशासन को दमन और जब्र कह दिया जा सकता है। अनिवार्य शिक्षा भी एक प्रकार का दमन और जब्र है और पैदावार के साधनों का राष्ट्रीयकरण तो बहुत बड़ा दमन और जब्र बताया जायगा।"—("नया पथ"—सितम्बर, १९५३)।

कहाँ राष्ट्रीयकरण, कहाँ हिन्दी-उर्दू समस्या ! पहले तो भारत में पैदावार के साधनों के राष्ट्रीयकरण का सवाल ही नहीं उठता

और जहाँ उठता है या उठा है, वहाँ कामचोर वर्गों की मिल्कियत खत्म करने को उठा है। क्या जो लोग लिखित-भाषा के लिये उर्दू काम में लाते हैं, कामचोर वर्गों के लोग हैं? यशपाल जी की उपमा ही जाहिर करती है कि उन्हों ने कामचोर वर्गों की वास्तविक समस्या भुला कर (और ये वर्ग लिखित भाषा के लिये हिन्दी-उर्दू दोनों का प्रयोग करते हैं!) तमाम उर्दू प्रेमियों को—या लिखित भाषा के लिये उर्दू-प्रयोग की सुविधा चाहनेवालों को—कामचोर-वर्ग बना दिया है और उन्हें अधिकारहीन करने का फैसला कर लिया है।

अनिवार्य शिक्षा का चलन करने पर दमन और जब्र जनता पर नहीं होता बल्कि उन कामचोर वर्गों पर होता है जो जनता को निरक्षर रखते हैं। राष्ट्रीयकरण में जो व्यवहार कामचोर वर्गों के साथ होता है, उस की तुलना जनता को अनिनार्य शिक्षा देने से करके यशपाल जी ने जनता और शोषक वर्गों का भेद भी भुला दिया है।

जब तक हमारे कुछ लेखक यह प्रचार करते रहेंगे कि जोर-जबर्दस्ती से हल करने पर लिखित भाषा की एकता कायम हो जायगी तब तक वह एकता उतनी ही दूर चली जायगी, जनता में फूट डालने-वाले भाषा के सवाल को प्रेम से इस्तेमाल करेंगे और इस सब से हिन्दु-स्तानी जनता के राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन का सवाल—हिन्दी प्रदेश के एकीकरण का सवाल—खटाई में पड़ा रहेगा।

यह समझना भूल होगी कि सभी हिन्दी-लेखक राहुल जी या यशपाल की तरह सोचते हैं।

अगस्त १९५३ की "अवन्तिका" ने संपादकीय नोट में इस बारे में लिखा है।

'अवन्तिका' उर्दू को किसी क्षेत्र की अलग भाषा नहीं मानती। लेकिन वह उसे स्वदेशी भाषा मानती है, राहुल जी की तरह अरब जेहादियों की कीर्ति-स्तम्भ नहीं। वह उस के विकास में बाधा देने

का विरोध करती है, जोर-जबर्दस्ती से राष्ट्रीयकरण या इस्लाम के भारतीयकरण (!) का सवाल नहीं उठाती।

इस से यह परिणाम निकलता है कि उकसावा पैदा करनेवाला वातावरण खत्म कर के अगर हिन्दी-उर्दू के जनवादी लेखक इस समस्या को सुलझाने बैठें तो ऐसा हल निकल सकता है, जिस में किसी के साथ जब्र भी न हो और क्रमशः हमारे हिन्दुस्तानी प्रदेश में एक लिखित भाषा के विकास के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ भी तैयार हो जायँ।

—अक्टूबर, १९५३